मोतीमाला का नौवाँ रत्न

अम्बा

(वियोगान्त एवं मौलिक नाटक)

नाटककार
श्री उदयशङ्कर भट्ट

प्रकाशक
मोतीलाल बनारसीदास
हिन्दी-संस्कृत पुस्तक-विक्रेता
सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

तृतीय संस्करण] सन् १९४० [मूल्य ।।।)

प्रकाशक—

सुन्दरलाल जैन

पंजाब संस्कृत पुस्तकालय,

सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

मुद्रक—

शान्तिलाल जैन

बम्बई संस्कृत प्रेस,

शाही मुहल्ला, लाहौर।

समर्पण

जिन्हों ने नश्वर शरीर के झुरमुट में जीवन का एक लम्बा
एवं अथक खेल खेला तथा मुझ में अठखेलियाँ भरदीं,
जिन्होंने विश्व की सुन्दर-तम कल्पनाओं के मीठे
श्वास लेकर मुझे उछ्वसित कर दिया, जो
अपने भाव-प्रवण हृदय की साहित्यिक
धरोहर सदा के लिये मेरे पास छोड़
कर जग की आँखों से ओझल
हो गये, उन्हीं वरद पिता मेहता
श्रीफतेशंकर दुर्गाशंकर जी के
पवित्र अक्षर चरणों में—

उदयशंकर भट्ट

पात्र-सूची

व्यासदेव	महाभारत के कर्ता
काशिराज	काशी का राजा
देवव्रत (भीष्म)	शान्तनु का पुत्र
चित्रांगद	,,
विचित्रवीर्य	,,
परशुराम	क्षत्रियों को जीतने वाले
विरूपाक्ष	काशिराज का विदूषक
वृद्धश्रवा	एक बूढ़ा राजा
शाल्व	सौभराज
चित्रसेन	गन्धर्वों का राजा

श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन

स्त्री-पात्र

अम्बा	काशिराज की कन्या
अम्बिका	,,
अम्बालिका	,,
सत्यवती	शान्तनु की स्त्री

मंत्री, परिचारक, सखियाँ आदि ।

विदूषक से कह रहे हैं 'कोई भीमकाय मनुष्य या राक्षस उनकी तीनों कन्याओं को हरे लिये जा रहा है।' यह अवसर भट्टजी को स्वप्नों की असारता और उनके उद्भव पर अपने विचार प्रकट करने को मिल गया। 'स्वप्न की सभी बातें असत्य होती हैं स्वप्न पर कौन विश्वास करता है, परन्तु स्वप्न का प्रभाव तो पड़ता ही है। जब अम्बा को स्वप्न का पता लगता है तो वह घबड़ा कर विदूषक से पूछती है कि 'क्या स्वप्न सच्चा होता है।' विदूषक उत्तर देता है 'कि कभी हो जाता है कभी नहीं।' बस इसी समय से उनके जीवन में एक विशेष परिवर्तन हो जाता है और वह कहती है कि 'विश्वास न होते हुए भी विश्वास करना ही होगा कि स्वप्न जागरण से भी अधिक भयानक होता है।' हम देखते हैं अम्बा इससे पहले प्रकृति के आँगन में खूब मग्न है। एक जगह वह कहती है 'जिस तरह कोयले से कोहेनूर, काले बादलों से बिजली और कीड़े से रेशम निकलता है उसी तरह काली रात से उषा जैसी सुन्दरी का जन्म हुआ है। किन्तु अब स्वप्न से प्रभावित होकर पिता जी के स्वप्न ने मुझे बाँध सा लिया है। विषाद मुझे दबोचे डालता है। मालूम होता है इससे मुझे प्रेम होगया है।' सभी सखियाँ उसे विषाद से हटाने की कोशिश करती हैं, परन्तु सौभ के युवराज शाल्व के उसके जीवन में प्रवेश करते ही एक नवीन क्रान्ति सी हो उठती है और उसके प्रेम का अंकुर उपज उठता है। इसी तरह भविष्य की उनींदी आँखों से झाँककर दोनों बहिनें भी प्रकृति की प्रसूत कल्पना में मग्न सी हो जाती है। उनमें से एक कहानी के द्वारा अपने भविष्य की कल्पना करने लगती है। अम्बिका कहती है 'काली रात थी आकाश में बादल छा रहे थे। उनसे दो बूँदें पहले फूल पर गिरीं, फिर काँटे पर लुढ़क पड़ीं और अन्त में ज़मीन पर आ गिरीं। प्यासी पृथ्वी ने उन्हें पी लिया।' बस, यही कहानी मानों उसके भविष्य के कुए में परिस्थितियों के द्वारा एक एक बूँद के रूप से भरकर पूर्ण हो जाती है। जब अम्बिका और अम्बालिका विधवा हो जाती हैं, बसन्त उनके लिए फीका हो जाता है, कोयल की कूक उन्हें काटती है, मंजरी का मादक मकरन्द उन्हें विष सा लगता है, उस समय अम्बिका फिर वही कहानी

दुहराती है। यह बात नाटक में बड़े कलात्मक ढंग से कही गई है मानो नाटककार ने एक ढाँचा तैयार करके अपने पात्रों की दिशाओं का अवलोकन कर लिया हो। इसी तरह श्री भट्टजी ने अम्बिका और अम्बालिका के द्वारा स्त्रीजनोचित विचारों में एक भयंकर क्रान्ति कर डाली है। एक जगह वे कहती हैं "मनुष्य लड़कियों को पकड़ कर ले जाता है उनसे चक्की पिसवाता है, पानी भरवाता है, बोझ उठवाता है और क्रोध आने पर मार बैठता है।" मालूम होता है हम किसी प्राचीन अमरीका और यूरुप के गुलामी से भरे हुए जीवन का चित्र देख रहे हैं। ठीक नहीं कहा जा सकता कि महाभारत का काल वैसा ही था या नहीं। लेकिन दूसरी जगह अम्बा ने गुनगुनाते हुए कहा है कि "मनुष्य और स्त्री स्वर्ग के पुजारी हैं, अभिन्नता सृष्टि है और भेद विनाश का झरना है जिससे प्रलय का जल गिर कर सृष्टि को डुबा देता है।" एक वेदान्ती चाहे इस मत को स्वीकार न करे परन्तु प्रेम के पुजारी को तो भेद विनाश सा ही ज्ञात होगा। कैसा अच्छा विचार है। प्रेम होते हुए भी अम्बा अपने प्रेमी को पास नहीं आने देती, वह कहती है "मनुष्य जाति बड़ी निठुर है, वह स्वार्थ से प्रेम करती है, वासना की पूजा करती है और सदा से आँखों की जलन को दूसरे की आँखों के पानी से बुझाती आई है।" अम्बा के पूछने पर अम्बिका कहती है 'पुरुष और स्त्री संसार की गाड़ी के दो पहिए हैं।' यहाँ ऐसा मालूम होता है मानो इन दोनों बहिनों ने मनुष्यता के भीतर घुसकर आत्मा के अभेद्य सम्बन्ध को पहिचान लिया हो। उन्होंने अपने जीवन में संसार के उद्देश्य को अपना लिया हो। इसी तरह एक जगह स्वयंवर के बाद विदूषक और वृद्ध राजा में बात चीत होती है। विदूषक कहता है कि "अन्धा कौन है? मैंने दासता के मोल पर अपने आँख, कान, नाक, वाणी को बेच डाला है बुद्धि एक को ठीक मानती है परन्तु आँखें दूसरे को।"

जब अम्बा हस्तिनापुर से शाल्व के पास जाती है और शाल्व उसका तिरस्कार करते हुए कहता है कि 'स्त्रियों का मानापमान ही क्या?' उस समय अम्बा कहती है "पुरुष समाज की इतनी धृष्टता? स्त्रियों के

सौन्दर्य की काई पर फिसलनेवाली पुरुष जाति ने आज से नहीं सदा से स्त्रियों का अपमान किया है।" एक जगह पुरुष नायक को याद करते हुए उसने यहाँ तक कह डाला कि "पुरुष रूप से रहनेवाले 'परात्पर' तुम्हें मेरी क्या परवा।" इन विचारों में भीषण क्रान्ति की चिनगारियाँ उठ रही हैं एक और स्थान पर अम्बिका कहती है "यही तो समाज की मर्यादा है, असमर्थ रोगी पुरुष के विवाह के लिए एक नहीं, तीन तीन कन्याओं को हर लाना स्त्रीत्व, समाज और मनुष्यता की हत्या नहीं तो क्या है? हमारे अधिकार किसने छीन लिए? समाज ने ही तो। मैं तो कहती हूँ हम सदा से मनुष्य की इच्छाओं की दासी हैं।" क्या यह अपटूडेट महिला के विचार नहीं हैं? एक और जगह नाटककार ने कहलाया है "एक स्त्री के अनादर से महाभारत हुआ और दूसरी स्त्री के अनादर से भीष्म की मृत्यु हुई।" इन विचारों में हमें जो सचाई प्रतीत होती है उससे आँखें नहीं हटाई जा सकतीं। महाभारत काल में भी स्त्रियों का अनादर जरूर हुआ है। इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता। ऐसा मालूम होता है अम्बा नाटक के स्त्री पात्रों ने संसार भर की स्त्रियों की दुर्दशा का प्रतिनिधित्व किया है। भट्टजी ने अनेक स्थानों पर नई नई उपमायें देकर अपनी तीक्ष्ण निरीक्षण शक्ति का परिचय दिया है। एक जगह वे कहते हैं "पलाश को अपने निर्गन्ध पुष्प पर भी गर्व होता है।" एक और जगह भी "परन्तु वह तो डर की तरह भयावनी, दुःख की तरह बेदर्द और प्रतिज्ञा की तरह कठोर निकली।" हमें मानना होगा कि एक नाटककार के रूप में श्री भट्टजी ने हिन्दी में एक नया मार्ग-प्रदर्शन किया है और वे वियोगान्त नाटक शैली के सर्व-प्रथम लेखक हैं।

श्री भट्टजी में विलक्षण प्रतिभा है, निरीक्षण शक्ति है। मैं उनको इस कृति पर बधाई देता हूँ। प्रेम की जटिलता सुलझाते होते हुए भी अम्बा में अश्लील शृंगार की गन्ध नहीं आने पाई। यही इस नाटक की सब से बड़ी विशेषता है। नाटक बालक बालिकाओं के हाथ में देने योग्य है। हमें विश्वास है कि विश्वविद्यालयों की समितियाँ तथा रंग-मंच इसे अपने यहाँ स्थान देकर अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय देंगे।

न मालूम उन्होंने क्या समझ कर यह 'प्राक्कथन' मुझे लिखने को कहा है, न मुझ में इतनी योग्यता है और न सहृदयता। आशा है इस नाटक द्वारा हिन्दी साहित्य की अपूर्व श्रीवृद्धि और हिन्दी पाठकों का मनोरंजन होगा।

छतरपुर।
२६-८-३५

चम्पाराम मिश्र बी० ए०
दीवान रियासत छतरपुर, सी. आई.

अपने पाठक से—

आज मैं हिन्दी जगत के सामने अपना तीसरा वियोगान्त नाटक लेकर उपस्थित हो रहा हूँ। यह पौराणिक नाटक है। इसकी कथा महाभारत से ली गई है। महाभारत में भीष्म का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके जीवन में उत्क्रान्ति मचा देनेवाला 'टर्निंग पाइन्ट' सत्यवती के राज्यमद के पूर्व से प्रारम्भ होता है। बस, उसी क्षण से देवव्रत 'भीष्म' बन जाते हैं। किन्तु एक सब से बड़ी घटना जिसने मृत्युंजय भीष्म को आजीवन बकोटा, उनके विवेक को नौंचा, उनकी धमनियों को आंदोलित किया, उनके हृदय को भयभीत कर दिया और उनकी आत्मा को रुला डाला; वह है अम्बा से उनका संघर्ष ! अम्बा उनके जीवन के निरभ्र-निशीथ में चुपचाप आकर खड़ी होगई। कर्त्तव्य और विवेक की टकटकी लगा कर निरुद्देश्य एवं बहुत ही साधारण दृष्टि में अकस्मात् आकर प्रतिभिम्बित होगई। इस प्रतिच्छाया में सर्व–प्रथम जितनी उपेक्षा, जितनी उदासीनता थी वह चित्रपट के समान स्पष्ट से स्पष्टतर होती गई। जिसने भीष्म को डस लिया और अन्त में वे उसी पश्चात्ताप, उसी प्रायश्चित्त की न बुझनेवाली आग में जल गए।

भीष्म के इस काम को महाभारत ने किस दृष्टि से देखा है यह मैं कहना नहीं चाहता। महाभारत अगाध समुद्र के समान है जिसमें एक विचार की उत्कट लहर को प्रतियोगिनी लहरों ने कई बार दबोचा है, कई बार एक क्रिया को प्रति-क्रियाओं ने जड़ से उखाड़ डाला है, कई बार तर्क ने विश्वास पर विजय पाई है, कई बार स्वर्ग ने संसार को निस्तेज कर डाला है। इसीलिए प्रस्तुत भीष्म को महाभारत की कसौटी पर कसना निरर्थक है। हम लोग संसारी जीव हैं, संसार की परिधि से बाहर देखने के आदी हम लोग ज़रूर रहे हैं परन्तु यह मैं कैसे कहूँ कि वह 'भ्रान्त कल्पना' थी। इतना कहने के लिए जिस साहस की आवश्यकता है वह मुझ में नहीं है। होने पर देखा जायगा। मैं तो केवल इतना ही कहूँगा कि हमें अपने संसार को भी देखना चाहिए। उसके अंतर में कितना भीषण युद्ध होता है छोटी

सी बात पर। इसे भुला न देना चाहिए।

हम में से 'सत्यं 'ब्रूयात्' बहुतों ने सुना है पर 'सत्यं कुर्यात्' कितनी बार आया है यह तो कहीं पढ़ा है ऐसा याद नहीं आता। सत्य कह देने से "सत्य करना" बहुत अच्छा है। इसमें शायद किसी शास्त्र को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। आपत्ति होने पर भी तो कोई शास्त्र इसके निषेध का साहस नहीं कर सकता। कदाचित् भीष्म ने भी 'सत्यं ब्रूयात्' का यथार्थ अर्थ 'सत्य बोलना' भर ही निश्चित किया था। "सत्यं कुर्यात्" उस समय के मानवविधान में क्षीण और दुर्बल रेखा में दिखलाई पड़ता है। यदि 'सत्यं ब्रूयात्' की जगह 'सत्यं कुर्यात्' पर अधिक ज़ोर दिया जाता तो शायद संसार का इतिहास लिखने की आवश्यकता न पड़ती। विधि विधान संसार में एक नाम मात्र की चीज़ रह जाती, उस समय घटनाएँ अभाव को कहते, संघर्ष मनुष्यता के बाहर समझा जाता; पाप 'कहने' की वस्तु होती, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। शायद हो भी नहीं सकता था। इसी लिए शास्त्रों ने'सत्यं कुर्यात्' पर जोर नहीं दिया। यह एक तरह से अच्छा ही हुआ और शायद इसी लिए महाभारत में केवल अभ्यास के लिए, बनावटी लड़ाई में प्रतिद्वन्द्वी की कल्पना की जाती थी। होती क्यों न ? लड़कियाँ छुटपन से ही गुड़ियों और गुड्डों के ब्याह द्वारा अपना भविष्य बनाती हैं। माँ भी बालक को बनावटी ढंग से रूठना सिखला ही देती है, और स्वयं रूठकर एक उज्ज्वल आनन्द का अनुभव करती है। जिसमें 'सत्यं ब्रूयात्' का तो कदाचित् कुछ अंश होगा। पर 'सत्यं कुर्यात्' तो नाम मात्र को भी नहीं है। मैंने अपने इन पात्रों में भी वही छटा देखी है। अबलाओं के छलछलाते हुए मन्द मन्द अश्रुपात द्वारा कई पात्र मेरे सामने आकर रोये हैं और अन्त में सदा हँसने की प्रतिज्ञा सी करने वाले विदूषक ने भी "मैंने तो सदा से सबेरे को साँझ की ओर बढ़ते देखा है" कहकर मुझे जी भर कर रुलाया है। कहा नहीं जा

सकता वे पात्र स्वयं इतनी दूर चले गए हैं या मैंने उन्हें खदेड़ा है। इतना तो जरूर कहूँगा कि मुझ में उन्हें उतनी दूर खदेड़ने की सामर्थ्य न थी।

भीष्म महाभारत के बहुत ऊँचे पात्र हैं। उनके पास जाते हुए मुझे सदा डर लगता रहा है, पर अम्बा ने उनके पीछे दौड़कर मुझे बेतरह दौड़ाया है। हाँ, अम्बा ने उन्हें पकड़ जरूर लिया है। लेकिन मैं भी भीष्म को पकड़ पाया हूँ इसमें अभी मैं बहुत संदिग्ध हूँ। अम्बिका और अम्बालिका के व्यंग्य और मर्मभेदी विचारों में लचीले पाठकों को उत्कट क्रान्ति की 'भ्रान्ति' होगी पर वह सत्य भी हो ही सकती है। विदूषक ने जरूर मुझे बहुत तंग किया है। कभी कभी मैं उससे बेतरह खीज भी उठा हूँ लेकिन उसकी मीठी और कटीली कचोटन में मुझे आनन्द भी मिला है। काशिराज के सामने स्वप्न एक पहेली बनकर आया और वे उसी पहेली में अन्तर्लीन हो गये। उनके संदेह में, उनकी निराशा में और उनके सुख में स्वप्न ने जिस विकराल दृष्टि से झाँका है उससे वे कभी मुक्त न हुए। सत्यवती ने उजली आँखों के कोयों के पास बिखरी हुई कालोंच देखी, उसने विषमता और समता को मिलाकर संसार में जिस निराशा की धारा बहा दी उस से वह स्वयं कभी न निकल सकी। उसके अनन्त यौवन ने अनन्त पीड़ा का परिधान पहिना। एक बार, केवल एक बार वह अपने जीवन में हँसी, उसके बाद वह सदा रोती रही। इस चरित्र ने विलास की आँखों से छलक कर आँसुओं की साँसे लीं और दुख के घने प्रवाह में अपने मीठे और सुनहले संसार को सदा के लिए डुबा दिया!

नाटक की यूनिटी के लिए मुझे अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ा है। वह तो स्वयं वैसे हो ही गया है मेरे पात्र मेरे अपने ही हैं, यह मैं कैसे कहूँ! विषमता और समता दोनों का ही नाम तो सृष्टि है। साधारण दर्शक को

हरियाली, पहाड़, नदियाँ, वन, महावन सब एकसे हैं भिन्न भिन्न हृदय की जिस धड़कन से, आत्मा की जिस विषम गूँज से हमारा जीवन-प्रवाह बहता है वह तो एक ही है।एक ही दिशा में हमारा अनभ्र संसार मनुष्यता की भ्रामक कल्पनाओं के भीतर धीरे धीरे घुसता है वहाँ से अनुमान के सहारे अकड़ता हुआ जीवन सुधा से सलिल, सलिल से विष और विष से नाश की ओर दौड़ता है और कभी कभी सीधा एक ही प्रवाह में बह कर अमृत भी बना रहता है। यह तो प्रवाह की गति है, समय का स्रोत है, परिस्थितियों की चट्टानें हैं; जैसा जो कुछ भी मिल जाय, सामने पड़ जाय। इसे हम नकल नहीं कह सकते। ऐसा करके तो सृष्टि के प्रारम्भिक विकास को रोक देना पड़ेगा। मेरे पात्रों ने यदि महाभारत की गुफा से निकल कर वस्तुस्थिति को ठोक बजा कर जाँचा और वर्तमान के जीवन में घुस कर एक नई दिशा देखी तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

कुछ लोग मुझ से पूछते हैं कि मैं वियोगान्त नाटक ही क्यों पसंद करता हूँ। इसका उत्तर मैं अपने 'दाहर' में दे चुका हूँ। इससे अधिक उत्तर में अभी तक नहीं खोज पाया। किन्तु "इसमें मुझे बहुत आनन्द मिलता है" क्या यह उत्तर काफी नहीं ? अब तो शायद यही ठीक होगा और यही सब से बड़ा प्रमाण है। दूसरे की धज्जियाँ जोड़ कर अपनी नई गुदड़ी तैयार करने की अपेक्षा नंगा रहना भी तो अच्छा है ! मेरा विश्वास है कला की परख के लिए हृदय की आवश्यकता है, मस्तिष्क की नहीं। और हृदय में भी संवेदना से जलकर, पिघलकर टप-टप करके गिरनेवाले आँसुओं को अधिक !

मुझे प्रसन्नता है कि साहित्य के पारखियों, विश्व विद्यालयों के सदस्यों, अध्यापकों और अन्य पाठक वर्ग ने मेरे नाटकों को अपनाया है, आलोचनाएँ की हैं, चाव से पढ़ा है, दाद दी है, सन्देश भेजे हैं। इसके लिए मैं केवल इतना ही कहूँगा कि उन्होंने अपनी गुणग्राहकता

का परिचय दिया है और मैंने निश्छल साहित्य-सेवा का। जिसमें पहला है साधन और दूसरा है गतिमान ध्येय।

अन्त में मुझे इस नाटक के 'प्राक्कथन' लेखक हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान रायबहादुर श्री पण्डित **चम्पाराम** मिश्र बी. ए. दीवान छतरपुर स्टेट, को भी धन्यवाद देना है जिन्होंने प्रस्तावना लिखकर नाटक की उपयोगिता को बढ़ा दिया है।

१ सितम्बर, १९३८, लाहौर। **नाटककार**

अम्बा

प्रथम अंक

पहला दृश्य

प्रातःकाल का समय

(स्थान—काशिराज अपने उद्यान में अकेले घूम रहे हैं)

काशिराज—अशुभ, महाअशुभ, ऐसा स्वप्न क्या कभी देखा था! वह तो जैसे मेरी आँखों के आगे अभी तक झूम रहा है। एक विकट गोरे रंग का आदमी मेरी कन्याओं को जबर्दस्ती उठाए लिए जा रहा है। ईस्पात की तरह उसका मुकुट चमक रहा है। आँखों में एक अपूर्व तेज, मुँह पर विलक्षण चमक शरीर में राक्षसों जैसा अथक बल··· ओह···बड़ा विलक्षण स्वप्न···(एक ओर देखते हुए) ठीक वैसा ही। क्या अब भी···(सँभलकर अपने अंग छूकर) क्या इस समय मैं जाग नहीं रहा हूँ? [अंग हिलाकर] जाग तो रहा हूँ—सचमुच जाग रहा हूँ। अरे, इतना

डर! नहीं, स्वप्न पर विश्वास नहीं करना चाहिये। स्वप्न···।

(विदूषक का प्रवेश)

क्या तुम हो!

विदूषक—[अपने अंगों की ओर देखकर] हूँ, क्या मैं नहीं हूँ महाराज! ठीक हूँ तो मैं ही, विशुद्ध विरूपाक्ष!

काशिराज—भ्रम हुआ।

विदूषक—भ्रम, [कुछ सोचकर] मैं हूँ तो विदूषक ही! [गम्भीरता से] ओह, अब तो मुझे अपने ऊपर भी विश्वास नहीं रहा! [आगे बढ़कर] ठहरिये, दूर खड़े होकर आप मुझे एक बार पुकार देखिये न! यदि मैं विदूषक हुआ तो अवश्य···।

काशिराज—नहीं ब्राह्मण, [विचार मग्न होकर] पर, यह मैं कैसे कहूँ कि यह सत्य नहीं होगा!

विदूषक—अरे, तो क्या मेरी सचाई में भी सन्देह है! अब तो मुझे कोई ठीक ठीक प्रमाण ढूँढना ही···।

काशिराज—राक्षस जैसा बली—[टहलने लगते हैं]

विदूषक—लो और सुनो—राक्षस जैसा बली! नहीं अब यह सब नहीं सहा जा सकता! महाराज को मैं राक्षस

जैसा…[आगे बढ़कर] महाराज, आपका यह विचार असत्य है असत्य…।

काशिराज—[पीछे घूमकर] असत्य, असत्य कैसे, क्या सभी बातें…स्वप्न… ।

विदूषक—बिलकुल असत्य, सर्वथा असत्य, राक्षस जैसा बल…।

काशिराज—हाँ ब्राह्मण, राक्षस जैसा बल तो था ही !

विदूषक—केवल मोदक भोजी, क्षीण, दुर्बल, कृशकाय पुरुष को आप ऐसा बता रहे हैं ! मैं विश्वास पूर्वक कह सकता हूँ कि मैं स्वप्न और जागृति में एक ही हूँ। सत्य हूँ महाराज ! यह केवल वेदान्त की कल्पना...।

काशिराज—[विदूषक की ओर घूरकर] तुम क्या कह रहे हो, कुछ समझ में नहीं आता !

विदूषक—[अकड़कर] महाराज, आप जो कह रहे हैं वह भी तो… । परन्तु विश्वास रखिये मैं भी सत्य ही विदूषक हूँ ।

काशिराज—तुम पागल तो नहीं हुए ?

विदूषक—पागल, हा विधाता, आज प्रातःकाल

यह भी सुनना पड़ा ! महाराज, मैं पागल कैसे ! अरे, क्या मैं पागल हूँ, निश्चय ही महाराज, मैं पागल··· ।

काशिराज—[हँस कर] ब्राह्मण, आज प्रातःकाल ही तुम्हें क्या हो गया ?

विदूषक—कुछ भी तो नहीं महाराज, मैं प्रमाण दे सकता हूँ कि मैं पागल नहीं हूँ । आपका विचार··· ।

काशिराज—(फिर कुछ गम्भीर होकर) परन्तु मैंने जो देखा वह असत्य कैसे हो सकता है । मैंने स्पष्ट देखा कि एक गौरवर्ण का अधेड़ युवक मेरी तीनों कन्याओं को उठाये लिये··· !

विदूषक—(घबरा कर) कब, कब ?

काशिराज—स्वप्न में ब्राह्मण, स्वप्न में; ओह, ऐसा क्या कभी देखा था, तीनों कन्याओं को !

विदूषक—धत्तेरे की, क्या यह सब स्वप्न-चर्चा थी महाराज ?

काशिराज—उस स्वप्न की स्मृति आते ही मैं जैसे बेचैन सा हो उठता हूँ !

विदूषक—स्वप्न झूठ होता है महाराज ! स्वप्न पर

विश्वास नहीं करना चाहिये!

काशिराज—स्वप्न पर विश्वास कौन करता है, स्वप्न की घटनाएँ स्वयं एक विश्वास के पृष्ठों पर लिखी जाकर मुझे जैसे अपनी ओर खींच रही हैं। हृदय मोम के समान बहुत कोमल पदार्थ है जिस पर घटनाएँ और संस्कार मोहर की तरह अपना प्रभाव डालते हैं! चाहे जिस अवस्था में वे घटनाएँ हों मनुष्य के हृदय पर उनका प्रभाव पड़ता ही है!

विदूषक—महाराज, स्वप्न जाग्रत अवस्था से भिन्न है। इसलिये स्वप्न की बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिये! यह देखिये कुमारी अम्बा आ रही हैं—

(अम्बा का प्रवेश)

काशिराज—[दौड़ कर आगे बढ़ता हुआ] आओ बेटी, मैं तुम्हें देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ! अहा, क्या सुन्दर भोला मुख है।

विदूषक—ठीक है महाराज!

अम्बा—[इधर उधर देख कर] पिता जी, कल्पना का नाम संसार है। संसार के तबले पर प्रातःकाल के पवन का ठेका लगते ही उषा निशा की माँगों में सुनहला इंगुर

लगाकर लजीली आँखों से उसकी ओर निहारती है—उस समय कैसा मधुर··· ।

विदूषक—अरे, कहाँ कुछ भी तो नहीं दिखाई देता कुमारी जी, क्या सचमुच ?

काशिराज—[प्रसन्न होकर] क्या सुन्दर कल्पना है !

विदूषक—[एक ओर को देख कर] आँखों में मिर्चौने हाथ लगते ही आँसू निकल पड़ते हैं, लोग समझते हैं मैं रोता हूँ, पर वे लोग यह नहीं जानते कि मैं क्यों रोने लगा ! मैं कभी नहीं रो सकता । झूठ है बिल्कुल झूठ—।

अम्बा—जिस तरह कोयले से कोहेनूर, काले बादलों से बिजली और कीड़े से रेशम निकलता है उसी तरह काली रात से उषा जैसी सुन्दरी का जन्म हुआ है !

काशिराज—ठीक है बेटी, परन्तु ओह, कैसा भयानक है वह··· ।

अम्बा—पिताजी, भयानक क्या ?

काशिराज—कुछ भी तो नहीं !

विदूषक—[और ज़ोर से] हाँ एक बात है, आँसुओं में भी एक अजीब तरह का खिंचाव है । बच्चे की आँखों

से नन्हें नन्हें आँसुओं की बूँदें निकलते ही माँ का हृदय बौखला उठता है। ठीक, याद आया। माता की आँखों में आँसू की ज़ंजीरें लटकती देखकर पिताजी भी कई बार बौखला उठे थे! यह समझ में नहीं आया क्यों?

काशिराज—[विदूषक की ओर] क्या कहा?

विदूषक—एक कल्पना है महाराज!

अम्बा—विदूषक जी घर की कोई कथा कह रहे हैं!

विदूषक—[अकड़ कर] यह घर की कथा है इसी का नाम कल्पना है साक्षात् कल्पना!

काशिराज—इस स्वप्न का क्या प्रतिकार है!

विदूषक—प्रतिकार, [सोच कर] प्रतिकार तो ब्राह्मण भोजन ही है। लड्डुओं का भोजन ब्राह्मण जाति को विशेष प्रिय है। वह ही इस स्वप्न का सत्य प्रतिकार है। अहा, प्रातःकाल ही मोदक का नाम याद आते ही जैसे मुझे कोई पिछली बात याद आ गई। एक बार की बात है, महाराज की ओर से मुझे निमन्त्रण मिला। पर वैसा निमन्त्रण क्या कभी मिला था! नहीं, वह, भोजन··· गोल गोल, बड़े बड़े लड्डू··· ।

काशिराज—नहीं, इसका उपाय कुछ भी नहीं । भविष्य मानों स्वप्न की आँखों से घूरता हुआ मेरी ओर चला आ रहा है । अपहरण की कथा होनहार के घने काले बादलों से झाँक कर जैसे मेरे कान में आकर इस स्वप्न को गुनगुना रही है । नहीं, यह मैं नहीं होने दूँगा । प्राणों की बाजी लगाकर, सर्वस्व का पासा खेल कर मैं इनकी रक्षा करूँगा । (एक ओर तेज़ी से चले जाते हैं)

अम्बा—विदूषक !

विदूषक—कुमारी !

अम्बा—यह सब क्या देख रही हूँ, पिताजी को क्या होगया ?

विदूषक—महाराज ने रात को एक स्वप्न देखा था !

अम्बा—कैसा स्वप्न ?

विदूषक—एक राक्षस जैसा बली पुरुष तुम तीनों बहनों को उठाये लिये जा रहा है !

अम्बा—हम तीनों बहनों को ?

विदूषक—हाँ ! महाराज उसी चिन्ता में लीन हैं ।

अम्बा—महाराज उसी चिन्ता में लीन हैं ?

विदूषक—हाँ, महाराज उसी चिन्ता में लीन हैं।

अम्बा—क्यों, क्या स्वप्न सच्चा होता है ?

विदूषक—सच्चा तो नहीं होता, शायद हो भी जाता हो।

अम्बा—तुम क्या जानते हो ?

विदूषक—यही कि कभी हो जाता है, कभी नहीं।

अम्बा—पर यह तो असम्भव जान पड़ता है ?

विदूषक—हाँ जान तो असम्भव ही पड़ता है।

अम्बा—क्यों असम्भव जान पड़ता है ?

विदूषक—मैं क्या जानूँ ?

अम्बा—नहीं ऐसा नहीं हो सकता; ऐसा नहीं हो सकता।

(जाती है)

विदूषक—और हो भी जाय तो मैं क्या कह सकता हूँ, मैं तो विदूषक हूँ; जिसका अपना कुछ भी नहीं। अपने आप कुछ भी नहीं जानता। जानने की आवश्यकता भी तो नहीं। मेरा दूसरा नाम प्रतिध्वनि है। चलूँ देखूँ, महाराज के किस स्वर से मेरा स्वर मिलता है। (जाता है)

पटपरिवर्तन

—:o:—

दूसरा दृश्य

स्थान—गंगा का किनारा

(अम्बा का दो सखियों के साथ प्रवेश)

अम्बा—(बेचैनी से घूमती हुई) अब तो यह न कहते हुए भी कहना ही होगा, विश्वास न होते हुए भी विश्वास करना ही होगा कि स्वप्न जागरण से भी अधिक भयानक होता है। नहीं तो पिता जी को वह स्वप्न इतना बेचैन क्यों कर डालता ?

पहली सखी—(दूसरी से) समझ में नहीं आता कुमारी जी को क्या चिन्ता है ?

दूसरी—इतना सुन्दर सुहावना समय और इस समय चिन्ता, समझ तो मैं भी न पाई। समझने की आवश्यकता भी नहीं है आकाश में मेघ छा रहे हैं। समीर हिम के शृंगों का आलिंगन करके प्रकृति के यौवन पर हृदय उड़ेलने टूट पड़ा है।

पहली—अरी निठुर, तुझे प्रकृति के पंखों पर नाचने

की सूझी है इधर हमारी सखी को कोई गहरी चिन्ता सता रही है। एक तो कुमारी अम्बा स्वभाव से ही गम्भीर है उस पर......।

दूसरी—फिर किया क्या जाय सखी, दुख के छोटे भाई का नाम परिश्रम है, परन्तु चिन्ता तो उसकी बड़ी बहन है न ?

अम्बा—(पीछे घूमकर) हाँ, चिन्ता दुख की बड़ी बहन है, यह ठीक है गरमी के दिनों में बहुत कुछ उपचार करने पर भी जब मध्यान्ह-सूर्य की किरणें दीवार फोड़ कर घर में घुस आती हैं तब बेचैनी तो होती है। हज़ारों प्रयत्न करने पर भी शीत को ग्रीष्म नहीं बनाया जा सकता।

दूसरी—परन्तु कुमारी ?

अम्बा—परन्तु कुमारी जी क्या, मैंने नित्य ही प्रातःकाल तारों को अपने हृदय का उल्लास लिये विकास के, जगत इसको विकास कहता है, उग्र नशे में बेसुध होकर सो जाते देखा है। मैं नित्य ही चन्द्रमा के शीतल स्निग्ध कोनों को विषभरे नीले आकाश के द्वारा चुम्बित होते देखती हूँ। मेरा भी आज वैसा ही प्रातःकाल है। गंगा

के प्रकम्पित प्रवाह में मुझे आज एक और ध्वनि सुनाई दे रही है।

दूसरी—(आश्चर्य से) क्या ?

पहली—कैसी कैसी ?

अम्बा—तुम उसे सुनकर क्या करोगी सखियो, जिस हँसने में सदा ही रोना भरा हो उस से कोई कब तक जी बहला सकता है।

पहली—(दूसरी से) आज कुमारी जी को कोई गहरी चिन्ता है।

दूसरी—(पास जाकर) बहन अम्बा, इस जग में सब कुछ है, दुख भी और सुख भी । आग भी पानी भी। परन्तु जो मनुष्य जलते हुए घर को बुझाने के लिये पानी न लेकर आग ही लाकर डालने का यत्न करे उसे क्या कहा जाय। माना दुख अधिक है पर जीवन का दूसरा नाम सुख की खोज भी तो है ? संसार में दुखों से सुखों को खोज कर निकालने का नाम ही तो जीवन की सार्थकता है। उस समय यश मान, वैभव के विशाल रूपों में जीवन मधुर राग द्वारा दुखी आत्मा को तृप्त करता है। वर्षा होने पर सभी

वृक्ष लहलहा उठते हैं परन्तु उस आक के पौधे को क्या कहा जाय जो सूखकर अपने रहे सहे कुछ पत्ते भी खो बैठता है।

अम्बा—(सोती हुई सी जाग कर) प्यारी सखी, तूने ठीक कहा—"परन्तु उस आक के पौधे को क्या कहा जाय जो सूख कर अपने रहे सहे पत्ते भी खो बैठता है।" ठीक है। पर मैं क्या करूँ, पिता जी के स्वप्न ने जैसे मुझे भी बाँध लिया हो, विषाद जैसे मुझे दबोचे डालता हो। मालूम होता है कोई मेरे कानों में आकर पिता जी के स्वप्न को दुहराता है।

दूसरी सखी—विषाद से प्रेम का दूसरा नाम है मृत्यु से प्रेम। बहन, क्या तुम्हें सुख कहीं भी मालूम नहीं होता। देखो, यह नदी कितनी सजधज से हृदय में उल्लास छिपाये, ऊँचे नीचे मार्ग से सरगम पर ताल देकर, उमंगों से नाचती हुई जा रही है। क्या इसमें आनन्द नहीं है, क्या फूलों का उन्मादी मधु पीकर संसार को सुख में बेसुध बना डालने वाले समीर की मस्त थिरकन में तुम्हें कुछ भी सुख नहीं मिलता ?

अम्बा—होगा।

दूसरी—इधर देखो, वही पुलकित पवन गंगा की तरंगों का आलिङ्गन करके कैसा झूम रहा है, तरंगें पवन के स्पर्श से उन्मादिनी सी होकर ऊपर को उछल रही हैं, कहीं ऊँची और कहीं नीची; मानों आनन्द के उभार में शिथिलता झलकी···।

(दूर से एक व्यक्ति आता दिखाई देता है)

अम्बा—यह कौन हैं ! पहले तो इन्हें कभी नहीं देखा !

पहली—जिन्हें पहले कभी नहीं देखा उन्हें भी कभी कभी देखना ही पड़ता है कुमारी !

अम्बा—(हंस कर) और न देखूँ तो ?

दूसरी—फिर भी देखना तो होगा और ऐसे स्थान पर देखने के बाद एक ही बात शेष रह जाती है··· ।

पहली—कि तुम कौन हो ?

(शाल्व पास आजाते हैं)

शाल्व—अशान्त हृदय की वीणा में आशावरी का मधुर राग गाने वाली स्त्री है । अहा, विधाता के सब प्रयत्नों का जीवित प्रयास··· ? इसमें कलियों की मुसकान, हिम की शीतलता, चन्द्र का आह्लाद और हृदय की बेसुधी···सब कुछ, एक ही जगह सब··· ।

(दो सिपाहियों के साथ विदूषक का प्रवेश)

एक सिपाही—यह लो यहाँ तो चाँदमारी··· ।

विदूषक—चुप, कुछ खोपड़ी का भी ध्यान है ? (दोनों सखियों से) तुम्हें कुछ और काम नहीं है क्या जो कुमारी अम्बा को इस झुलसती हुई रेत में, अनन्त जल के ढेर के पास दोपहरी में लिये फिरती हो, यदि कोई डूब जाय तो कौन तुम्हारे बाप को बाप कहेगा ?

पहली—आइये विदूषक जी, आप इधर कैसे लुढ़क पड़े ?

अम्बा—मुझे इन सखियों ने न मालूम कहाँ लाकर··· ।

विदूषक—वही तो मैं भी कहता हूँ इन ब्राह्मण कन्याओं से—मैंने इसीलिए विवाह नहीं किया—क्या कहा जाय सिर पर पैर रखकर चलती है सिर पर पैर ।

पहली—विदूषक जी, भला तुमने कभी यह भी सोचा है कि तुम किस लिये जी रहे हो ?

दूसरी—और मरोगे किस लिए ?

विदूषक—बताऊँ मैं किस लिए जी रहा हूँ ? (शाल्व की ओर देखकर) हैं, यह कौन आदमी है ? (शाल्व से)

महाशय, आप कन्धे पर धनुष रक्खे, भारी भरकम देह का बोझ सँभाले कौन हैं ? यहाँ किस लिये···किसी से लड़ने की सलाह है क्या ?

शाल्व—मैं सौभ का युवराज शाल्व हूँ।

अम्बा—(धीरे से) युवराज शाल्व।

पहली—क्या आप ही पितृ-भक्त कुमार शाल्व हैं ?

विदूषक—और स्वयं मैं ?

एक सिपाही—आप महाराज के विदूषक हैं ?

विदूषक—(सिपाही से) तुम्हें बोलने का कुछ भी अधिकार नहीं है। नहीं मैं विदूषक नहीं हूँ। मैं विरूपाक्ष हूँ विरूपाक्ष, समझे राजकुमार, परन्तु इससे क्या मैं विदूषक भी तो हो ही सकता हूँ। मैं विदूषक ही हूँ । तुम कौन होते हो मूर्ख, मुझे विदूषक बताने वाले ? इससे तुम्हारा क्या आता जाता है ? मैं विशुद्ध विरूपाक्ष हूँ । यह सुनकर भी तुम्हें खेद तो नहीं होना चाहिये। और विदूषक होने से कोई बुराई तो हो ही नहीं सकती।

शाल्व—ठीक, मालूम हुआ तुम महाराज काशिराज के विदूषक हो।

विदूषक—मालूम हुआ तो ठीक हुआ। न मालूम होता तो भी ठीक होता। यह नहीं कहा जा सकता ठीक क्या है ?

एक सिपाही—अब आप कुमारी जी को लेकर लौटियेगा भी···?

विदूषक—हाँ भाई, तुम ठीक कहते हो। मैं विदूषक जो हुआ इसी से कुमारी अम्बा को लेकर लौटना होगा। लौट चलना होगा। चलो, कुमारी अम्बा चलो और काँटो (सखियों से) तुम भी चलो।

सखियाँ—क्या हम काँटा हैं जलमुए ?

विदूषक—काँटा, फूल में काँटे की तरह तुम अम्बा के साथ फिरती हो। काँटा तो तुम्हें कहना ही होगा। हम ब्राह्मणों के लिये तो तुम काँटा हो। वाह, क्या सुन्दर घोषणा है जलमुए। ब्राह्मण अग्निमुख होते हैं इसलिए यह विशेषण सब तरह से ठीक है।

(सब एक ओर को चले जाते हैं केवल शाल्व रह जाते हैं)

शाल्व—(उस ओर देखकर) अहा, पृथ्वी पर उतरा हुआ चन्द्रमा कितना दाहक है। अनन्त के झरोखे से एक तारा सरसराता हुआ नीचे उतरा और न मालूम किस दिशा को

चला गया। हाँ, उसकी क्षीण रेखा हृदयाकाश में अभी तक मौजूद है। मैं शिकार की खोज में आया किन्तु विधाता ने मुझे भी एक शिकार बना डाला। आज मैं एक बोझ सा लेकर लौट रहा हूँ। (एक ओर को चले जाते हैं)

पट परिवर्तन

———

तीसरा दृश्य

स्थान—हस्तिनापुर के अन्तःपुर का एक भाग।

(चित्रांगद और विचित्रवीर्य बैठे हैं)

विचित्र०—संसार अन्तरों की विस्मयभरी घटनाओं का भण्डार है। हम तीनों एक ही पिता के पुत्र हैं, परन्तु भैया भीष्म और हम दोनों में कितना अन्तर है, वे वीर, सत्यव्रती, दयालु हैं और हम डरपोक, निर्वीर्य। उनका त्याग कितना महान् है अगर वे चाहें तो संसार को जीत सकते हैं।

चित्रां—इससे क्या, उनकी ही कायरता से हमारा जन्म हुआ है। मैं इस त्याग को भी कायरता ही कहता हूँ। यदि वे वृद्ध पिता की आज्ञा पालन न कर उनके अधर्म का साथ न देते तो इस संसार में हमारे जैसे निर्वीर्य, कमज़ोर और कायरों का जन्म न होता। आज राज्य की गति ही बदली हुई दिखाई पड़ती विचित्र !

विचित्र०—(आश्चर्य से) तो क्या पितृभक्ति धर्म नहीं है !

चित्रां०—हो सकती है परन्तु समाज की रक्षा उससे भी बड़ा धर्म है। किसी बूढ़े, ढलती जवानी के पुरुष को क्या

अधिकार है कि वह पुत्र के सुख की हत्या करके अपने सुख की कल्पना में संसार और समाज का अहित करे ?

विचित्र०—भैया के सामने तुम्हारी यह तर्क बुद्धि कहाँ चली जाती है ?

चित्रां०—कहीं भी नहीं, केवल बड़प्पन की रक्षा के लिये मैं उनके सामने कुछ भी नहीं कहता।

विचित्र०—यह भी खूब रही। क्या समाज की रक्षा के सामने तुम बड़प्पन की रक्षा उचित समझते हो ? अभी तो तुमने व्यक्ति से समाज को ऊँचा बतलाया था !

चित्रां०—ठीक है, पर अब उस गति को कौन मेट सकता है। पिता ने जो कुछ किया उसका फल तो हमें ही भोगना पड़ रहा है। अब उसमें भैया क्या कर सकते हैं।

विचित्र०—तो तुम व्यक्तिगत-धर्म से समाज-धर्म को बड़ा मानते हो ?

चित्रां—बहुत बड़ा। यह ठीक है व्यक्ति से समाज बनता है। उस समाज के सामने हमें वैयक्तिक धर्म को तिलांजलि देनी चाहिये। परन्तु क्या पिता का बूढ़ी उमर में एक अनन्त-यौवना से विवाह करके, अभिलाषाओं के घनघोर

थपेड़े खाकर पछताते हुए आत्म-विसर्जन करना और अपने पीछे बुढ़ापे के कलंक एक विधवा और दो निस्तेज, अपाहिज बालकों को छोड़ जाना समाज के प्रति अन्याय नहीं हुआ ?

विचित्र०—हो सकता है, किन्तु पिता की आज्ञा का पालन करना भी समाज की रक्षा का एक अंग है। यदि भैया पिता जी की इच्छा पूर्ण न कर अपने अधिकार पर ज़ोर देते तो क्या आनेवाले युग के बालक दादा भीष्म का उदाहरण देकर बात बात में पिता की आज्ञा का विरोध न करते ?

चित्रां०—यह केवल वाक्छल है। यदि ठीक इसी प्रकार की घटना भविष्य के बालकों के सामने आती और वे उस अवस्था में अपने गुरुजनों का विरोध करते तो व्यक्तित्व की रक्षा के सामने समाज का ही अधिक कल्याण होता, विचित्र !

(सत्यवती का प्रवेश—दोनों उठकर खड़े हो जाते हैं)

चित्रां०—(उसी धुन में) आओ माता, हम लोग समाज के कलंक हैं, हम तीनों का एक होकर अमंगल की काली गुदड़ी

में मुँह छिपा लेना समाज के कल्याण की एक महान् साधना होगी।

सत्यवती—ठीक है। मैं सब सुन चुकी हूँ। चित्रांगद, तुझ में मेरे हृदय की क्रान्ति झलकती है बेटा, जिस दिन मैं तेरे पिता के पास आई, देवव्रत के महान किन्तु भीरु आत्मत्याग के सामने सिर झुकाकर मेरे अज्ञानी माता पिता ने मुझे महाराज की अंक-शायिनी बनने भेजा, उसी दिन मेरे हृदय में आत्मगौरव पुकार कर रो उठा था। स्त्री जाति के प्रति अनन्त अपमान की भावना मेरे हृदय में जाग उठी थी।

परन्तु उस समय मैं राजमद की भूखी थी, यौवन की न बुझने वाली प्यास ने मुझे बेचैन कर दिया था। कुछ ही दिनों बाद मेरे हृदय में उस अज्ञान के प्रति तिरस्कार की, उस मद के प्रति घृणा की, उस पतन के प्रति विषाद की भावनाएँ तीव्र-तीव्रतर होती गईं। पर नहीं—शास्त्र कहता है "स्त्री को पति के प्रति कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है।" मैं अब कुछ न कहूँगी—केवल आत्मग्लानि, परिताप ही मेरे सहचर हैं। जबरदस्ती मुझ से कराये गये पापों की अग्नि में

धुआँ ही धुआँ है। उसी में धक्‌धक् करके दम घुट रहा है। ओह, यदि कहीं··· ।

चित्रां०—माता, जिन जगमगाते भवनों को देखकर हमारी आँखें चौंधिया जाती हैं, उनकी दीवारों में मिट्टी की बनी हुई ईंटें हैं। मनुष्य के पैरों में चुभ कर इधर उधर ठोकर खानेवाले पत्थरों का चूना है। न्याय की कोठरियाँ विलास और स्वार्थ की सामग्री से भरी हुई हैं। जिसे मनुष्य राजदण्ड कह कर पुकारता है उस में भी मनुष्य के स्वार्थ की ही चमक है। मैं भैया का आदर करता हूँ किन्तु मुझे उनके अज्ञान पर तरस भी आता है।

सत्यवती—जो हो, मुझे अपने दुर्भाग्य की अमिट रेखा में चित्रकार भीष्म का ही हाथ दिखाई देता है। आँखों में जिस तरह तारे चमकते हैं ठीक उसी तरह मेरे दुख में, मेरे परिताप में, भीष्म की यह कायरता पूर्ण······ । यह सब कुछ मैंने आज उससे कह भी डाला है। बहुत दिन हृदय की उस आग को हृदय में दबाये रखा, पर सवेरे तो वह मुझे जैसे असह्य हो उठा। मैंने कह ही डाला सब कुछ···सब ही···हा प्रतिशो······ ।

विचित्र०—मैं देखता हूँ तुम दोनों क्रान्ति और घृणा की काली भावनाओं में मनुष्यत्व को भूल बैठे हो। मैं अपने को सब प्रकार से हीन पाकर भी भाई के प्रति कोई अनुचित शब्द नहीं सुनना चाहता। (उठ कर चलने लगता है)

चित्रां०—विचित्रवीर्य, अकारण क्रोध न करो । मैं भी भैया का उतना ही भक्त हूँ जितने तुम। तनिक सोचो तो यदि पिता बलपूर्वक हमारी माता को हर लाये होते तो भैया की बलवान् सन्तान के सामने हमें कितना नीचा देखना पड़ता! मैं उन के त्याग का पुजारी हूँ किन्तु… ।

(नेपथ्य में कोलाहल की ध्वनि सुनाई देती है)

हैं यह क्या ? यह कैसा कोलाहल है ?

(प्रतिहारी दौड़ता हुआ आता है)

प्रतिहारी—महाराज, रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये।

चित्रां०—(एक दम खड़े हो कर) क्या हुआ ?

प्रतिहारी —महाराज, चित्रसेन नाम के गन्धर्व ने हस्तिनापुर पर चढ़ाई कर दी है। चारों तरफ से नगर घेर लिया है ।

विचित्र०—अब क्या होगा ? गन्धर्वों का सामना कौन करेगा ?

चित्रां०—चल, मैं सेना लेकर गन्धर्वों से लड़ूँगा । माता आज्ञा दो, यह पापी शरीर हस्तिनापुर की रक्षा में अपना कलंक धो सके। (एकदम चला जाता है)

सत्यवती—चला गया, क्या अकेला ही ? जा…मेरे आत्मसम्मान जा, हृदय की तीव्रता।

(दोनों अपने ध्यान में बैठे रहते हैं)

पटपरिवर्तन

———

चौथा दृश्य

(अम्बिका और अम्बालिका बैठी बातें कर रही हैं)

(स्थान—राजभवन का उद्यान)

अम्बिका—बहन कहती है मैं आकाश की तरह निर्मल हूँ और तू नदी के जल के समान स्वच्छ। पर बहन को क्या हो गया है ?

अम्बालिका—क्या हो गया है ?

अम्बिका—वह चुपचाप एकान्त में पड़ी गुनगुनाया करती हैं। नीले आसमान की ओर ताका करती हैं। कभी कभी बड़ी उसासें लिया करती हैं।

अम्बालिका—यह तो बड़ी बुरी ख़बर है ।

अम्बिका—क्यों इसमें बुरी ख़बर क्या है ?

अम्बालिका—बड़ी बुरी बात है सचमुच !

अम्बिका—क्या ?

अम्बालिका—(बड़े ध्यान से) सुनती हूँ सन्निपात के ये ही लक्षण हैं ।

अम्बिका—सन्निपात कैसा ?

अम्बालिका—वही जो अपने विदूषक जी को कभी कभी हो जाया करता है।

अम्बिका—उससे क्या होता है ?

अम्बालिका—आदमी सोते सोते उठ बैठता है, आकाश की ओर ताकने लगता है अपने आप बोलने लगता है। सचमुच बड़ी बुरी ख़बर है।

अम्बिका—फिर वही बात उससे हानि क्या हुई ?

अम्बालिका—हानि तो बड़ी हुई।

अम्बिका—क्या हानि हुई ?

अम्बालिका—यही की सोते सोते उठ बैठता है, आकाश की ओर ताकने लगता है और अपने आप बोलने लगता है।

अम्बिका—यह कोई बुरी बात है ?

अम्बालिका—और यह क्या कोई अच्छी बात है ?

अम्बिका—इसमें बुरी बात क्या हुई ?

अम्बालिका—इसमें अच्छी बात क्या हुई ?

अम्बिका—तो क्या यह बुरी बात है !

अम्बालिका—अरे तो क्या अच्छी बात है यह ?

अम्बिका—तू कैसी है ?

अम्बालिका—जैसी तू है।

अम्बिका—मैं कैसी हूँ ?

अम्बालिका—जैसी मैं हूँ।

अम्बिका—दुर पगली !

अम्बालिका—दुर पगली !

अम्बिका—मैं पगली क्यों ?

अम्बालिका—मैं ही पगली क्यों ? जा मैं तुझ से नयीं बोलती। (रूठ जाती है)

अम्बिका—न बहन रूठो मत। हम तुम दोनों एक हैं।

अम्बालिका—एक कैसे।

अम्बिका—काली रात थी, आकाश में बादल छा रहे थे।

अम्बालिका—इससे क्या ?

अम्बिका—टप टप करके दो बूँदें गिरीं।

अम्बालिका—फिर ?

अम्बिका—पहले दोनों फूल पर गिरीं।

अम्बालिका—तब क्या हुआ ?

अम्बिका—दोनों फूल की बूँदें काँटे पर लुढ़क पड़ीं।

अम्बालिका—ऐसा !

अम्बिका—काँटा बूँदों के बोझ को न संभाल सका, वे दोनों मिल कर ज़मीन पर आ गिरीं। प्यासी पृथ्वी ने उन्हें पी लिया।

अम्बालिका—क्या सपना देख रही है इन बे सिर पैर की बातों से मतलब ?

अम्बिका—देख, बहन अम्बा आ रही है। आओ छिप जाँय।

अम्बालिका—क्यों, कोई बहन से भी छिपता है ?

अम्बिका—और किससे छिपा जाता है ?

अम्बालिका—मनुष्य से।

अम्बिका—मनुष्य से क्यों, क्या वह कोई भयानक चीज़ है ?

अम्बालिका—हाँ।

अम्बिका—कैसे ?

अम्बालिका—यह लड़कियों को पकड़ कर ले जाता है। इन से चक्की पिसवाता है, पानी भरवाता है, बोझ

उठवाता है और क्रोध आने पर मार बैठता है ।

अम्बिका—ऐसा, तब तो मनुष्य से मुझे बड़ा डर लगता है पर हमारे पिता जी तो ऐसे नहीं हैं ।

अम्बालिका—ऐसे क्यों नहीं हैं । वे भी तो हमारी माता को कहीं से पकड़ कर लाए होंगे ।

[अम्बा का प्रवेश]

अम्बा—ये छोकरियाँ कितनी प्रसन्न हैं, सौन्दर्य के आँगन में कली की तरह ये भोली, नीरस पवन के प्रकम्पन से अनभिज्ञ हैं । संसार हँसता है पर इनकी हँसी में, मुस्कराहट में, विलास में अपनापना है, आत्मा की उज्ज्वल चमक है। एक मैं हूँ जो सूर्य की किरणों से अग्नि बने हुए आतिशी शीशे की तरह जल रही हूँ। मेरी स्वच्छता मेरी जलन का कारण है। प्रेम, प्रेम क्या वस्तु है इसी की उधेड़ बुन में-अशान्ति की आग में, बेचैनी के उबलते जल-कुण्ड में मछली की तरह तडप रही हूँ । मनुष्य उस उमड़े हुए मेघ के समान है जिस में पानी और आग दोनों का वास है। प्यासी और मादक आँखों की कोर से उस नवयुवक ने मेरे हृदय में बिजली की लरजा दी है। आह–कहीं मैं उन्हें··· ।

अम्बिका—(ध्यान से देख कर) अरी, क्या यही सन्निपात है ?

अम्बालिका—ठीक यही।

अम्बा—अरी अम्बिका, अम्बालिका क्या कर रही हो !

दोनों—कहानी कह रही हैं, कहानी।

अम्बा—कैसी कहानी ?

दोनों- एक राजा की।

अम्बा—क्या कहानी है मैं भी तो सुनूँ ?

अम्बिका—मैं कह रही हूँ वह राजा था। यह कह रही है नहीं वह राक्षस था।

अम्बा—क्यों री वह कौन था !

अम्बालिका—कोई भी हो वह एक लड़की को उठा कर लेगया- तब तुम्हीं बताओ बहन वह राजा था या राक्षस ?

अम्बा—दोनों हो सकते हैं।

दोनों—कैसे कैसे ?

अम्बा—यदि वह विधि पूर्वक लेगया तो वह राजा था और जबरदस्ती ले गया तो था वह राक्षस। शास्त्र

में राक्षस विवाह भी ऐसा ही बतलाया गया है।

अम्बालिका—मैं कहती थी न कि मनुष्य से छिपना चाहिये।

अम्बिका—(डर कर अम्बा से चिपक जाती है) बहन, फिर मुझे आदमी से···।

अम्बा—(आकाश की ओर देख कर गुनगुनाने लगती है) आः ! यह बिचारी क्या जाने कि मनुष्य और स्त्री स्वर्ग के पुजारी हैं। अभिन्नता सृष्टि है और भेद विनाश का झरना है; जिस में प्रलय का जल गिरकर सृष्टि को डुबा देता है। (अम्बिका के सिर पर प्यार का हाथ फेरती हुई) न बहन, डर की कोई बात नहीं। मैं जो हूँ, तुझे कौन ले जा सकता है! [इतने में दोनों को एक मनुष्य की छाया दिखाई देती है अम्बिका, अम्बालिका दोनों डर कर घर की ओर भाग खड़ी होती हैं। अम्बा उस ओर जाती है पास जाकर शाल्व को पहचान लेती है] निठुर !

शाल्व—हृदयेश्वरी, उस दिन से आज तक विक्षिप्त की तरह घूम रहा हूँ। नीले आकाश में, साँझ की लालिमा में, प्रातःकाल की उषा में, तुम्हारी ही मधुर मूर्ति···।

अम्बा—तुम मेरे अन्तर में छाया की तरह घूमा करते हो। जितना मैं तुम्हें पकड़ने दौड़ती हूँ उतना ही तुम भागते हो निठुर, तुमने क्या कर दिया ?

शाल्व—जब फूलों की हँसी कलियों की मुस्कराहट से उलझती है, तब उस हँसी में, उस मुस्कराहट में तुम ही झलक जाती हो। भौंरा जब फूल पर मँडरा कर गुनगुनाने लगता है तब मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि वह तुम्हारा ही नाम लेकर कोई गीत गा रहा है। तुम मेरे हृदय की चमक हो और इन प्यासी आँखों की तरस। (आलिङ्गन करने के लिए हाथ फैलाता है।)

अम्बा (पीछे हटकर) न, अभी नहीं।

शाल्व—जीवन के अन्तरंग में घुस कर बाहर से भेदभाव कैसा ?

अम्बा—मनुष्य जाति बड़ी निठुर है, मेरी बहनें मनुष्य का नाम सुन कर डर जाती हैं।

शाल्व—और तुम ?

अम्बा—(मुसकराकर) मनुष्य स्वार्थ से प्रेम करता है, वासना की पूजा करता है, वह सदा से अपनी आँखों की जलन

को दूसरे की आँखों के पानी से सींचता आया है।

शाल्व--इस भूमण्डल में कोई भी शक्ति मुझे अपने अटल प्रण से नहीं हटा सकती। प्रिये, तुम्हारे लिये मैं संसार को लात मार सकता हूँ। विषैले साँपों की दाढ़ों पर नाच सकता हूँ।

अम्बा—(आवेग में आकर) सचमुच !

शाल्व—आत्म-विसर्जन कर सकता हूँ प्रिये ! (फिर आलिङ्गन को आगे बढ़ता है)

अम्बा—न, न, अभी नहीं।

(एक दासी ढूँढती हुई आती है)

दासी—कुमारी जी, कुमारी जी, कहाँ गई। महारानी जी, बुला रही हैं।

अम्बा—क्या है री ?

दासी—महारानी जी बुला रही हैं। वे कहतीं हैं कुमारी को बुला ला।

अम्बा—चल आती हूँ।

दासी—उन्होंने मुझे आज्ञा दी है कि साथ लेकर

शीघ्र आ, कदाचित् महाराज बुलाते होंगे। (दोनों जाती हैं शाल्व चुपके से बाग में छिप जाते हैं।)

शाल्व—संसार में स्त्री भी एक विचित्र वस्तु है। इसकी आँख की दाईं ओर स्नेह की नदी वह रही है, दूसरी ओर घृणा, भय और तिरस्कार की तहें जमी हुई हैं। पुतली में आकर्षण और चितवन में वारुणी की उत्तेजना है। अवहेला इसकी पलकों पर झूलती है। वासना के अक्षय भण्डार को लज्जा की मञ्जूषा में छिपानेवाले रमणी वर्ग ने मनुष्य को बौखला दिया है। मेघों में बिजली, समुद्र में बड़वा, पर्वतों में ज्वालामुखी, पवन में सिहर और मादकता इसी के रूप हैं। इसकी भोली आँखों से विष के बुझे हुए बाण निकलते हैं, समय में बेचैनी झूलती है और हँसी में बेहोशी। यह बड़ी निठुर है और बड़ी प्रेममयी। अम्बा, मेरे जीवन की प्यास, हृदय की धड़कन !

(चले जाते हैं)

पटपरिवर्तन

———

पांचवाँ दृश्य

(स्थान—गंगा का तट)

(उद्विग्न अवस्था में भीष्म टहल रहे हैं)

भीष्म—अहा, आज जाना कि कर्तव्य के पहियों में आत्मभिमान का कीचड़ लगा है । सौन्दर्य की चिकनी चुपड़ी आकर्षक तसवीरों के पीछे कोरी सफ़ेदी है । धर्म के अंगों में कर्तव्य सबसे बड़ा है पर आज कर्तव्य पालन के पके हुए फलों से खटास क्यों मिली ? तब इससे ही क्या आज जो कुछ देखा, जो कुछ सुना वह क्या कभी सुना था ? फिर सुनूँ भी क्यों नहीं, मेरे कर्तव्य की आग में यदि कोई दूसरा जलने लगे तो सब सुनना ही होगा। जीवन के सुरक्षित फलों में उग्र दुर्गन्ध उठ रही है (कुछ सोचकर) इसमें मेरा क्या दोष···
(चुपचाप व्यास का प्रवेश)

अगर किसी यात्री के पैरों से चींटियाँ दब कर मर जाँय तब क्या वह चलना छोड़ देगा ?

व्यास—ऐसे समय उसके दो कर्तव्य हैं वत्स ! चींटी देखना और मार्ग तय करना।

भीष्म—(संभ्रम से) आइये प्रभो! जीवन के निकम्मे अंग के समान यह भीष्म आपको प्रणाम करता है। मैं कर्तव्य की···।

व्यास—सब जानता हूँ वत्स! कर्तव्य का पालन करते जाओ कल्याण होगा।

भीष्म—कर्तव्य, मेरे कर्तव्य की चिनगारियों से आज माता सत्यवती झुलस गई हैं। इसका उपाय नाथ?

व्यास—होनहार की गाड़ी के दो पहिये हैं। साधन और प्रेरणा। कर्तव्य मार्ग है, कहा जाने वाला विवेक उसका रथी है, ठीक मालूम होने वाला धर्म उसकी लगाम है। मनुष्य उसमें 'नूनच' नहीं कर सकता?

भीष्म—मैं नहीं समझा?

व्यास—समझना तुम्हारा काम नहीं है। तुम्हारा धर्म है काम। जाओ, चित्रसेन नामक गन्धर्व ने हस्तिनापुर पर आक्रमण किया है उसकी रक्षा करो।

भीष्म—(हाथ जोड़ कर) जो आज्ञा!

(जाते हैं)

पट परिवर्तन

छठा दृश्य

स्थान—हस्तिनापुर का बाहरी भाग ।

(युद्ध का कोलाहल हो रहा है । चित्रांगद मूर्च्छित अवस्था में बड़बड़ा उठता है ।)

चित्रां०—(बेहोशी में) मारो मारो···हस्तिनापुर···पर शत्रु आक्रमण नहीं कर सकता । कर्तव्य घटना के मेघों से··· । (कुछ संज्ञा प्राप्त करके) हाय, बड़ी पीड़ा है, आः । अवसान··· जीवन का अवसान । माता, हा बड़ी पीड़ा है । हृदय की जलन और कर्तव्य की अग्नि में सब कुछ स्वाहा···स्वाहा हो गया । पानी उफ़ पानी की एक बूँद नहीं, पुरुष के स्तन के समान मैं निरर्थक हूँ । दुर्गन्धि की तरह घृणित हूँ, मुझे पानी कौन देगा ? मृत्यु, जीवन की संध्या । प्रातःकाल, कितना मनोहर प्रातःकाल··· उषा की सुनहरी माँगों में चन्द्रमा की तरह मैं मौत का···शिकार बना हूँ । आ···पीड़ा । (मर जाता है)

(भीष्म का प्रवेश)

भीष्म—हैं ? यह क्या ! (पास जाकर उसे टटोलते हैं)

मर गया। युद्ध की काली श्वास-हीन दाढ़ों में कुचल गया। (उठाकर एक तरफ़ ले जाने लगते हैं, इसी बीच में चित्रसेन के कुछ योद्धा भीष्म पर झपटते हैं, भीष्म भाई को एक तरफ़ रखकर शत्रु से युद्ध करते हैं, इसी समय चित्रसेन आता है।)

चित्रसेन—तू कौन है युवक !

भीष्म—देवव्रत !

चित्रसेन—अविनीत, गन्धर्वराज का नाम चुराने के कारण तुम्हारा भाई मारा गया।

चित्रसेन का मन्त्री—गन्धर्वों का इतना अपमान कि मनुष्य उसकी समता करे !

चित्रसेन का विदूषक—गन्धर्वों की स्त्रियों की माँग की तरह ऊँचे महाराज की इतनी अवज्ञा ? अहा, खुभाने के सुख के समान मुझे इसकी मृत्यु पर हर्ष हो रहा है। (देवव्रत से) मनुष्य, अधकचरी डेढ़ हड्डी का मनुष्य महादेव गन्धर्व का सामना कैसे कर सकता है ! सिर पर टाँगें उठा कर भागो नहीं तो गोरे युवक, तुम माता के आँसुओं की भाँति भूमि पर पड़े दिखाई दोगे। क्या तुम्हें नहीं मालूम हमारे महाराज की बुद्धि युद्ध के मैदान में जल में तेल की

बूँद की तरह फैल जाती है और जल में गाढ़े घी की तरह उनका बाण हृदय में पैठ जाता है।

देवव्रत—अधम गन्धर्वों, मैं बहुत बातें नहीं बनाता, आओ, मुझ से युद्ध करो। (युद्ध होने लगता है थोड़ी देर में सब गन्धर्व भाग जाते हैं। भीष्म भाई को लेकर नगर की ओर जाते हैं।)

(कुछ बचे हुए गन्धर्व लोग)

पहला—गया ? बुरे हारे।

दूसरा—बहुत बुरी तरह।

तीसरा—वह तो यह कहो कि मैं पीछे हट गया नहीं तो··· ।

चौथा—नहीं तो क्या ?

तीसरा—अजी यह भी कोई लड़ाई थी। उसके तीर तो पेट में भूख की तरह चुभते थे।

दूसरा—आँखों में कंकड़ की तरह कसकते होंगे क्यों न ? मैंने देखा कि मेरे एक मित्र के प्राण तीर लगते ही गरम तवे पर पानी की तरह छनछना कर ठंडे हो गये।

पहला—हमारे महाराज का चेहरा उस समय देखने योग्य था !

दूसरा—कैसा था ?

तीसरा—अजी उतरा हुआ होगा और क्या।

पहला—उस युवक के बाणों की मार से हमारे महाराज का चेहरा बकरी के गले में थन की तरह थलथलाने लगा। ओठ पापड़ से होड़ कर रहे थे। आँखें कपाल फोड़ कर ब्रह्मरन्ध्र से मिलने चल दी थीं। और रंग सूरजमुखी की तरह पीला हो गया था।

दूसरा—और तुमने महाराज के विदूषक को भी देखा वह तो बड़ा मज़ेदार मालूम होता था। उसकी सूरत देख कर हँसी के मारे मेरे पेट में तो बल पड़ गए। हा हा हा···हा···आह, उफ़! अब भी हँसी के मारे पेट फूला जाता है!

सब—(उत्सुकता से) भला, वह कैसा मालूम होता था ?

दूसरा—अजी कुछ न पूछो, देवव्रत के बाणों की बौछार को देखकर तेज़ हवा में पत्ते की तरह उसकी पिंडलियाँ काँप रही थीं। दोनों हाथ आगे करके वह पीछे की ओर भाग रहा था। एक हाथ में बिना डोरी की कमान तूफ़ान में आई हुई नाव की तरह झोंके खा रही थी। मुँह

पिचक गया था, दाँत चिपक गये थे। घिघी बँध गई थी। अन्त में 'हाय री अम्मा' कहकर गिर पड़ा।

सब—(हँसते हुए) वह बिचारा लड़ना क्या जाने।

चौथा—किन्तु मैंने जो तीर छोड़ा था यदि वह देवव्रत के लग जाता तो ब्रह्मा हाथ-पैर पीटकर भी उसे नहीं बचा सकता था।

तीसरा—अफसोस, मेरे पाश को उसने वैसे ही काट दिया नहीं तो बच्चू वहीं फँस चले थे।

दूसरा—न मालूम मेरी तलवार में उस समय कुछ मोथरापन आ गया था या क्या, नहीं तो उसकी मार के सामने उसकी तो शक्ति ही क्या स्वयं इन्द्र भी नहीं ठहर सकता था।

पहला—महाराज वैसे ही हार गये, अन्यथा हम लोगों की बहादुरी में तो कोई कसर थी नहीं !

पहला—राजा का भाग्य ही ऐसा था, अन्यथा हम लोग हैं तो ऐसे ही।

सब—(एक स्वर से) इसमें क्या सन्देह है !

(सब एक ओर को चले जाते हैं।)

पट परिवर्तन

———

दूसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—काशिराज का प्रमोद उद्यान।

(अम्बा पत्थर के बने सिंहासन पर चिन्तामग्न बैठी है।)

अम्बा—(बीच बीच में उसाँसे लेकर) उफ़, बेचैनी हृदय से फूटी पड़ती है। पलकें जागरण की सखी बन गई हैं। आँखें तो मानों आकाश की आग खाकर उबल सी उठी हैं। हृदय स्मृति से विभोर होकर आँखों में अटक रहा है नीरव निशीथ में नीहारिका के उजले कणों से मेरे आँसू स्पर्द्धा करने पर उतारू हो रहे हैं। पिता स्वयम्बर की तैयारी कर रहे हैं। यदि वे न आए, न आसके; ओः ध्यान आते ही हृदय चूर चूर हो जाता है। नहीं, वे ज़रूर आयेंगे। न क्यों आएँगे! उनके हृदय में भी तो वैसी ही उथलपुथल है। (आकाश की ओर ताककर) आओ, यह हृदय तुम्हारे

ही स्मृति कणों से बना है। तुम्हारी आकांक्षाओं की धड़कन से गतिमान है। एक बार फिर……… ।

[विदूषक के साथ काशिराज का प्रवेश]

विदूषक—देखिये देखिये महाराज, वह है कुमारी अम्बा! ठीक है किसी पके हुए फल के गिरने की ताक में बैठी होगी। हो सकता है किसी वृक्ष के पत्ते गिन रही हो। हैं, यह क्या, अधिक लड्डू खाने के कारण उफने हुए पेटवाले ब्राह्मण के समान यह ऊपर की ओर उसाँसे क्यों ले रही है।

काशिराज—अम्बा बड़ी गम्भीर और समझदार कन्या है ब्राह्मण ?

विदूषक—अम्बा और अम्बा की…… । उसके पिता भी तो महाराज ? अम्बा को देखकर ऐसा मालूम होता है मानो हवा पर झूलते हुए बादलों की तरह मुँह लटकाए अशोक वाटिका में सीता बैठी हो। एक और उपमा भी मुझे याद आई महाराज ?

काशिराज—[हँस कर] और क्या ?

विदूषक—बगले की तरह एकाग्र।

[पिता का आगमन जान कर अम्बा खड़ी होजाती है। काशिराज पास जाकर सिर पर प्यार से हाथ फेरता है।]

काशिराज—बेटी, यहाँ एकान्त में बैठी क्या सोच रही हो!

अम्बा—कुछ भी तो नहीं पिता जी!

काशिराज—ब्राह्मण, मेरी यह कन्या ज्ञान के समान निष्पाप है।

विदूषक—किन्तु मेरा विचार तो और ही है?

काशिराज—क्या?

विदूषक—कुमारी अम्बा भौंरे की तरह फूलों पर झुक पड़नेवाली और बकरी की तरह पत्तों से प्यार करने वाली है।

काशिराज—हुश, क्या बकता है। बेटी, तुम्हें मालूम होगया होगा कि अब तुम्हारा स्वयम्बर होनेवाला है। राजकुमारों को निमन्त्रण भेज दिया गया है। ब्राह्मण देखो, आज उद्यान कितना सुन्दर दिखाई देता है। सुगन्धित समीर ने उद्यान के वृक्षों को मस्त बना दिया है। ये हिरनों के बच्चे आपस में कैसी अठखेलियाँ कर रहे हैं,

इधर तालाब की ओर सारसों की पंक्ति, कितनी सुन्दरता से चल रही है, मानो विधाता के किसी विधान की साधना में लगी हो।

विदूषक—महाराज उधर देखिये, मौलसिरी के फूल लपक लपक कर ज़मीन का मुँह चूम रहे हैं। हा, इन्हें क्या मालूम कि एक बार अपने स्थान से गिरने पर ये जाति-भ्रष्ट हिन्दुओं की तरह अपना पूर्वपद न प्राप्त कर सकेंगे। मकरन्द के मद ने ही अपनी योग्यता पर अभिमान करने वाले चंचल युवक की तरह वृक्ष से इनका विछोह करा दिया है।

काशिराज—ठीक है, अब हमें दरबार की ओर चलना चाहिये।

विदूषक—किन्तु उद्यान का सौन्दर्य मनुष्य के सौन्दर्य से बढ़ कर नहीं है। तब फिर मैं क्यों कम सुन्दर होने लगा। मोदक की तरह प्रातः सायं स्मरणीक मेरी माता जी कहा करती··· ।

काशिराज—(हँस कर) उपमा बहुत सुन्दर है (ठहाका मार कर) 'मोदक की तरह प्रातः सायं स्मरणीय' भला क्या कहा करती थीं !

विदूषक—बार बार यही कि—

मैं सुन्दर हूँ अति सुन्दर, हूँ कामकला का मंदिर

परियाँ मुझ से भय खातीं।

अम्बा—[हँस कर]

गर्दभ सा गायन सुन्दर।

काशिराज—[ठहाका मार कर] पादपूर्ति तो ठीक हुई क्यों ब्राह्मण, चलो।

[दोनों जाते हैं]

[दूसरी ओर से अम्बिका अम्बालिका का प्रवेश]

अम्बिका—मैं कहती थी न, इन दिनों बहन धूप में मुरझाई हुई कली के समान कुम्हला रही हैं। भला इन्हें क्या चिन्ता है। हमें तो देखो कैसे आनन्द में बिचरती हैं।

अम्बालिका—आनन्द से खाती पीती हैं।

अम्बिका—मौज में रहती हैं।

अम्बालिका—अपनी नींद सोती हैं।

अम्बिका—अपनी नींद उठती हैं।

अम्बालिका—चारों तरफ़ आनन्द है।

अम्बिका—चारों तरफ़ बहार है।

अम्बालिका—भला तुझे कैसा लगता है!

अम्बिका—क्या?

अम्बालिका—हृदय।

अम्बिका—मेरे हृदय में गुदगुदी उठ रही है, ऐसा लगता है इन फूलों की सुगन्धि से मदमाते पवन से चिपट कर आकाश में उड़ जाऊँ और टिमटिमाते तारों का मुँह चूमलूँ; चन्द्रमा को छाती से चिपकालूँ। भला तुझे कैसा लगता है?

अम्बिका—मुझे ऐसा लगता है कि कली बन कर हवा पर थिरकूँ, फूल बनकर झूमूँ, भौंरा बनकर मँडराऊँ; कोयल बनकर एक ऐसी तान छेड़ूँ कि संसार सिहर उठे। नदी के जल-कण लेकर दरबार में बैठे विदूषक को भिगो दूँ और डण्डा बनकर जोर से तेरे सिर पर आ गिरूँ। [हँस कर] कैसी कही?

अम्बालिका—और मैं न पत्थर बनकर तेरे सिर का कचूमर निकाल दूँ।

(अम्बा उसी ओर जाती है)

अम्बा—अरी क्या कर रही हो !

अम्बिका—कुछ भी तो नहीं बहन ।

अम्बा—(प्यार से दोनों के सिर पर हाथ फेरती हुई) अब तुम्हारा स्वयंबर होनेवाला है, जानती हो ?

दोनों—जानती हैं ।

अम्बा—अब तो पुरुष से डर नहीं लगता ?

दोनों—नहीं, पुरुष और स्त्री तो संसार की गाड़ी के दो पहिये हैं । यह हमें माता जी से मालूम हुआ है ।

अम्बा—भला अम्बिका, तू कैसा पति चाहती है ?

अम्बिका—(हंसकर) अम्बालिका जैसा ।

अम्बा—और अम्बालिका तू ?

अम्बालिका—अपने गुड्डे जैसा ।

अम्बा—(हंस कर) दुर पगली । अभी तुम निरी लड़कियाँ ही हो ।

अम्बालिका—बहन, आज कल हमारे नगर में बड़ी सजावट हो रही है ।

अम्बा—तेरा स्वयंबर जो हुआ ।

अम्बालिका—तुम्हारा भी तो ···· ।

अम्बा—(अम्बालिका के गाल पर एक हल्की सी चपत लगाकर) हाँ मेरा भी । (कुछ सोचती हुई एक ओर को चल देती है दोनों बहनें वहीं रह जाती हैं ।)

अम्बालिका—भला बहन, क्या हम ऐसे ही नहीं रह सकतीं ! प्रकृति की प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र है । अहा ! स्वतन्त्रता कितनी अच्छी चीज़ है ? पानी के मोतियों की माला पहने हुए बादल अपनी मौज में घूमते हैं । बिजली बादलों के फोए से दिल में उल्लास भरकर कड़कती है, चुलबुलाती हवा अपनी मस्ती में झूमती है; अबोध बच्चे की तरह खिलखिला कर हँसते हुए ये फूल अपने आनन्द में कैसे नाचते हैं; फिर हम क्यों नहीं स्वतन्त्र रह सकतीं बहन !

अम्बिका—रह सकती हैं ।

अम्बालिका—फिर पिता जी न जाने क्यों हमारे गले में ब्याह की जंजीर डाल रहे हैं ? ।

अम्बिका—(गम्भीर बन कर) हाँ डाल तो रहे हैं ।

अम्बालिका—क्यों डाल रहे हैं ?

अम्बिका—मैं क्या जानूँ क्यों डाल रहे हैं! ब्याह कोई अच्छी ही चीज़ होगी।

अम्बालिका—इस में अच्छाई क्या है! मनुष्य ने पराक्रम के मैदान में आज्ञा का जाल बिछा रखा है। स्त्रियाँ एक अचिन्त्य काल से उसी जाल में फँस रही हैं, इसलिये हम भी फँसेंगी। शिकारी हमेशा से शिकार खेलता आ रहा है, चिड़ियाँ सदा से उसमें फँसती आ रही हैं। एक बार स्त्री को पुरुष के अधीन हो जाने पर अपने आपको भूल जाना होता है। उसके आँखों के इशारों पर स्त्री को नाचना पड़ता है। उसकी रूखी हँसी में खिलखिला कर हँसना पड़ता है।

अम्बालिका—उसके कराहने पर चीख़ मार कर रोना होता है।

अम्बिका—यह भी कोई जीवन है!

अम्बाालिका—मृत्यु है मृत्यु, परन्तु एक बात है?

अम्बिका—क्या?

अम्बालिका—लोगों से सुना है कि यह अनादि धर्म है।

अम्बिका—इसके क्या अर्थ ?

अम्बालिका —अनादि का अर्थ है जिसका आदि न हो।

अम्बिका—तब तो इसका अर्थ यह हुआ कि स्त्रियाँ अनादिकाल से पुरुषों की इच्छा और अत्याचारों का शिकार बनती आ रही हैं।

अम्बालिका—अनादिकाल से पुरुष का पौरुष स्त्रियों को अबला बनाने में रहा है।

अम्बिका—होगा, हमें इससे क्या, जीवन की गहराई की थाह ढूँढने का नाम चिन्ता है, झंझट है। आओ खेलें।

अम्बिका—हाँ, यह तो है ही। चलो खेलें।

(दोनों एक ओर को चली जाती हैं)

पटपरिवर्तन

———

दूसरा दृश्य

स्थान—काशी का राजपथ ।

(कुछ नवयुवक तथा वृद्ध राजाओं का प्रवेश)

एक नव०—(दूसरे से) मनुष्य ने स्त्रियों पर सदा से अपना अधिकार जमाया है। परन्तु स्वयंवर ही एक ऐसा अवसर है जहाँ पुरुष को स्त्रियों की दृष्टि में कृपापात्र बनना पड़ता है और वह भी हम जैसे वीर पुरुषों को। धिक्कार है इस प्रथा को। क्या इस अधिकार द्वारा क्षत्रियों ने अपने हाथ पैर नहीं कटवा डाले ?

दूसरा—सचमुच बड़ी निकम्मी प्रथा है। पर एक बात है।

पहला—क्या ?

दूसरा—मनुष्य ने स्त्री जाति के गौरव की रक्षा की है ?।

वृद्ध—क्या कहा, मनुष्य ने गौरव की रक्षा की है ?

भला इनका गौरव ही क्या।

दूसरा—क्यों क्या स्त्रियों को आत्मगौरव की आवश्यकता नहीं है ?

वृद्ध०—अजी जाने भी दो। स्त्रियों के गौरव की रक्षा करते ही वे सिर पर चढ़ जाती हैं । जब मैं अपनी राजधानी से चला तो मेरी प्रजा के एक सम्भ्रान्त व्यक्ति ने पूछा—'महाराज वृद्धश्रवा, आप स्वयम्बर में क्यों जा रहे हैं।' मैंने उस समय उत्तर देना उचित न समझा । परन्तु यहाँ आप से कहता हूँ कि मुझे अपनी रानी से बहुत डर लगता है।

पहला—(उत्सुकता से) डर लगता है ?

तीसरा—हाँ भाई, उसके सामने आते ही जैसे मैं सब कुछ भूल जाता हूँ। पूरी घाघ है।

दूसरा—ऐसा क्यों ? क्या वह तुमसे प्रबल है ?

तीसरा—अजी प्रबल, वह तो आँधी से भी प्रबल है। याद आते ही कलेजा मुँह को आने लगता है। भगवान् ने न जाने कहाँ से साथ बाँध दी ।

पहला—क्या तुम्हारा स्वयम्बर नहीं हुआ था ?

तीसरा—बात यह है कि मैं तो उस स्वयम्बर में तमाशा देखने गया था। तुम्हें मालूम ही है कि हमारा वंश बड़ा बली है मेरी वीरता भी तुम जानते हो

बसुधा की सब बेचैनी वसुधा का सुख है इसमें।
अमृत है और हलाहल जीना मरना है जिसमें।
स्मृति के पंखों पर सारा यह झूल रहा है जीवन।
स्मृति-विस्मृति की आँखों में मेरा नन्हा सूनापन।
उस पार क्षितिज से धुंधला हाँ धुधला देव चमकता।
इस पार मृत्यु की सरगम पर जीवन राग थिरकता।
आँखों की एक कहानी इन आँखों में लिख डाली।
अब भरे हुए आँसू हैं सब लगता खाली खाली।

वृद्ध०—यह लो एक नये प्रेमी आ धमके। आप कौन हैं साहब!

शाल्व—मैं सौभ का युवराज शाल्व हूँ।

वृद्ध०—आप कहाँ जा रहे हैं?

शाल्व--काशिराज की लड़कियों के स्वयंबर में। और आप?

वृद्ध०—मैं भी। क्या मैं स्वयंबर के लायक नहीं हूँ। अभी मेरी उमर ही क्या है? बाल कुछ सफेद हैं, तो इस से क्या? नज़ले से ऐसा हो ही जाता है, तुम केवल झुर्रियों का ज़िक्र कर सकते हो सो वे तो बीमारी से पड़ गई हैं।

पहला नव०—आपकी अवस्था क्या होगी ?

वृद्ध०—अवस्था बहुत थोड़ी, और बहुत हो तो भी क्या शरीर में बल होना चाहिये। तुम्हें मेरी वीरता का ज्ञान इसी से हो जायगा कि मेरे राज्य में एक भी बिल्ली, चूहा और कुत्ता नहीं है। मैंने सब का शिकार कर डाला है। हाँ जनाब शेर को मारना आसान है पर चूहों का मारना बड़ा कठिन!

शाल्व—(हँस कर) हाँ ठीक है आप बड़े वीर हैं!

वृद्ध०—तुम हँसते हो!

शाल्व—हाँ आपकी वीरता की कहानी सुनकर हँसी आगई।

पहला—परन्तु इसमें क्या प्रमाण है कि इस स्वयंबर में आपको मनचाही कन्या ही मिलेगी ?

वृद्ध०—न हो, एक नहीं तो दूसरी, दूसरी नहीं तो तीसरी। स्त्रियां आख़िर हैं किस लिये। फूल की सुगन्धि भौंरे के लिये और वर्षा की बूँद पृथ्वी के लिये है। इनका अपनापन तो कुछ है ही नहीं। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' क्या तुमने शास्त्र नहीं पढ़ा ?

(भीष्म का प्रवेश)

वृद्ध०—(भीष्म को देखकर) क्या आप भी स्वयंबर में

जा रहे हैं ?

भीष्म—जा तो रहा हूँ ।

वृद्ध०—कन्यावरण के लिये !

भीष्म—देखा जायगा ।

वृद्ध०—ये लोग मुझे बूढ़ा समझ रहे हैं। मैं कहता हूँ मैं युवा हूँ । आप कहेंगे कैसे, मैं कहता हूँ मेरा मन अभी जवान है । (अकड़ कर) डील डौल सब दुरुस्त । केवल बालों की सफ़ेदी से क्या होता है ? बाल तो नज़ले से भी सफ़ेद हो जाते हैं। आप के भी तो बाल सफ़ेद हैं, पर इससे क्या ! स्वयंबर में बाल देखता ही कौन है । और उस समय तो मेरे सिर पर मुकुट होगा । किन्तु अब हमें जल्दी चलना चाहिये । ऐसा न हो कि हम समय पर न पहुँच सकें और कहीं सब गुड़ गोबर होजाय ।

सब—हाँ ठीक है, यदि आप स्वयंबर में ठीक समय पर न पहुँच सके तो काशिराज उलाहना देंगे ।

वृद्ध०—उलाहना, देंगे तो लेलूँगा पर समय पर तो पहुँचना चाहिये ही ।

(सब चले जाते हैं)

पटपरिवर्तन

———

तीसरा दृश्य

(सत्यवती उद्विग्न अवस्था में)

सत्यवती—मुनिवर पाराशर के वरदान से तो मृत्यु अच्छी थी। अनन्त यौवन की अपेक्षा बुढ़ापा अच्छा था। इसमें अभिलाषा के स्थान पर होती है असमर्थता। अत्यन्त मदोन्मत्त तो हाथी भी पागल हो जाता है। न जाने मैंने किस अशुभ घड़ी में मुनि से यह वरदान माँगा था। पर अब क्या हो सकता है, तीर छूट गया। मुझे जीवन में एक सहारा मिला वह भी टूटा हुआ। एक हृदय मिला वह भी क्षुब्ध और व्यग्र। नहीं, कहीं भी कुछ नहीं है। सब ओर अँधेरा है। चित्रांगद गन्धर्वों के हाथों मारा गया। वह वीर था और थी मेरे हृदय की शुद्ध छाया। मेरी आत्मा की व्यक्त प्रेरणा। दूसरा पुत्र दीन, हीन और रोगी……।

(विचित्रवीर्य का प्रवेश)

विचित्र०—हाँ, यह ठीक है। यही कहना उपयुक्त है—दीन, हीन और रोगी। जीवन में मुझे यही प्रसाद मिला है।

सत्यवती—नहीं बेटा, मैंने यह सब बातें तुम्हारे लिये नहीं कहीं। मैं ही अभागी हूँ दोष किसे दूँ। (रोने लगती है)

विचित्र०—माता, यह क्या तुम रोती हो ? नहीं, रोओ मत। अभी इस जीवन में रोने के बहुत दिन हैं। रोना ही तो है। मैंने समाज के शरीर में फोड़े के समान जन्म लिया है, उसके समाप्त हो जाने पर ही दुख दूर होगा। तुम रोती क्यों हो ?

सत्यवती—मेरे लाल, ऐसा न कहो। विधाता ने संसार का सुख देखने को मुझे दो आँखें दी थीं, एक आँख फोड़ दी। किन्तु क्या पलाश को अपने निर्गन्ध पुष्प पर गर्व नहीं होता ! आह, वह कैसा शुभ दिन था, जब मैंने अपनी कुसुमित आशाओं को दो पुत्रों के रूप में देखा था !

विचित्र०—पर अब मुझे जीवन में कोई साध नहीं, कोई

इच्छा नहीं। कभी कोई इच्छा थी भी नहीं। मुझे उजला संसार नहीं चाहिए माँ!

सत्यवती—नहीं विचित्र, इतने बेचैन मत हो। आशा और निराशा के संघर्ष से उत्पन्न होने वाली अग्नि से संसार गतिमान है। पुत्र, भीष्म को मैंने तुम्हारे विवाह के लिए भेजा है।

विचित्र०—मुझे विवाह की कोई इच्छा नहीं। नहीं माँ, मेरे विवाह की आवश्यकता भी नहीं। मैं विवाह न करूँगा। मेरा विवाह तो रोगों से पहले ही हो चुका है, निराशा, उदासीनता, कायरता मेरी सहचरियाँ हैं। मैं विवाह न करूँगा।

सत्यवती—पुत्र, यह संसार भविष्य के अँधेरे की अज्ञात की ओर दौड़ रहा है। सब आगे को देखने की चिन्ता करते दौड़े जा रहे हैं। रोगी भविष्य में नीरोग बनने का स्वप्न देखता हुआ जा रहा है, निर्धन धन की, दुखी सुख की, ज्ञानी बृहद्ज्ञान की ओर बद्ध मोक्ष की, बस यही हाल है इस संसार का। तू और मैं भी उसी प्रवाह में बहे जा रहे हैं फिर आगे आने वाले सुख या दुख के प्रति वैराग्य

संसारी को शोभा नहीं देता। अब तेरा विवाह होगा। फिर देखना तेरा छोटा सा संसार किस प्रकार एक बार फिर चमक उठेगा पुत्र!

विचित्र०—ठीक माता, तुम ठीक कहती हो।...... इन बातों को सुनकर मुझे इच्छा होती है...इच्छा। उसी दौड़ में एक बार बेतहाशा दौडूँ, एक बार बादलों की दुनिया में रिमझिम का नाच देखूँ। भला मेरा...विवाह कहाँ......कब......क्या मैं सुखी हो सकूँगा......माँ?

सत्यवती—काशिराज की कन्याओं का स्वयंबर है उन्हीं में से एक को लाने के लिए मैंने भीष्म को भेजा है। तुम सुखी होगे बेटा। तुम्हारा सुख ही तो मेरी आँखों की ज्योति है। आः पुत्र को क्या मालूम कि माँ की कितनी ममता होती है। एक बार, यदि एक बार......।

विचित्र०—स्वयंबर, पर मेरे वहाँ न रहते हुए......स्वयंबर...... आश्चर्य है?

सत्यवती—तेरे वहाँ न रहने पर भी कन्या लाने का मैंने प्रबन्ध कर दिया है।

विचित्र०—पर यह बात तो मेरी समझ में बिल्कुल नहीं आती।

सत्यवती—(ऊँची श्वास लेकर) समझ में न आना ही अच्छा है, समझने की आवश्यकता भी तो नहीं है मेरे पुत्र।

विचित्र०—क्यों माँ ?

सत्यवती—पुत्र, न समझना अच्छा है। समझ कर क्या करोगे बेटा ? निर्णय करते समय पापों की उखाड़ पछाड़ से तो उसका भविष्य प्रकाशमय करने का उद्योग ही अच्छा है।

विचित्र०—(तेजी से) इसका क्या मतलब ?

सत्यवती—इसका आशय यही है कि तू मुझ मल्लाह की लड़की से उत्पन्न हुआ है, ऐसा लोग जानते हैं। और काशिराज कदाचित् अपनी कन्या तुझे देना पसन्द न करें इसलिए बलपूर्वक हर लाने के लिए ही मैंने भीष्म को स्वयंबर में भेजा है।

विचित्र०—बलपूर्वक ! बलपूर्वक कन्याहरण ! तुमने बहुत बुरा किया। मैं व्याह न करूँगा माँ !

सत्यवती—हाँ पुत्र, क्षत्रियों में बलपूर्वक कन्याहरण भी न्याय है।

विचित्र०—तुम जाओ माँ, मुझे एकान्त में न्याय अन्याय पर विचार करने दो। मैं समाज के अनुचित बोझ से दबा जा रहा हूँ। जाओ माँ जाओ। (सत्यवती जाती है) इतनी गर्हा, मल्लाह की लड़की होने से क्या मैं इतना पतित हो गया। समाज की जिन लड़कियों ने पिता शान्तनु को मल्लाह की कन्या से विवाह करने का आदेश दिया, क्या वही मुझे जातिच्युत कर रही हैं! ओह यह कैसा विधान है। परन्तु मैं तो रोगी हूँ। मुझे विवाह का अधिकार ही कहाँ है। फिर भी मैं विवाह करूँगा। मैं भी देखूँगा मेघ को देख कर मोर क्यों नाचने लगते हैं। पपीहा स्वातिबूँद से इतना प्रेम क्यों करता है। मैं विवाह करूँगा।

(टकटकी लगाकर एक ओर देखता रह जाता है)

पट परिवर्तन

———

चौथा दृश्य

(स्वयंबर का स्थान)

(सब आये हुए राजा अपने स्थानों पर बैठे हैं। तीनों राजकुमारियाँ स्वयंबर सभा में वरमाला लिए प्रवेश करती हैं ।)

सखियाँ—गाती हुई:—

विजयिनी वैजयन्ति जयमाल
स्फटिक-मुक्ता-दल-कलित विशाल
पुष्प पल्लवयुत मृदुल अमन्द
गन्ध परिपूरित लाल प्रवाल
विजयिनी वैजयन्ति जयमाल

(गायन समाप्त होता है)

मंत्री—राजा लोगो तथा राजकुमार वर्ग, क्षत्रियों के विवाह की प्रथा के अनुसार हमारे महाराज काशिराज की तीनों कन्याओं का स्वयंवर है इसी लिए आप को कष्ट दिया गया है।

(भीष्म सभा में प्रवेश करते हैं)

भीष्म—(राजा की ओर) महाराज क्षत्रियों में स्वयंवर बल की परीक्षा के लिये होता है । मैं आज उसी बल का

प्रदर्शन करके आपकी तीनों कन्याओं को लेने आया हूँ ।

काशिराज—आइये प्रतापी देवव्रत, आपके दर्शन से हमारी सभा सनाथ हुई ।

विदूषक—आज संसार ने समझ लिया कि सौन्दर्य की विजय··· ।

एक राजकुमार—आजन्म ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा करनेवाले देवव्रत इतने उतावले··· ?

दूसरा—अरे भाई, 'भोग्यं किं रमणीं विना' तुम क्या जानो हाथी के दाँत दिखाने के और, और खाने के और होते हैं ।

तीसरा— नहीं इसमें कुछ रहस्य ही होगा, देवव्रत तो कभी प्रतिज्ञा से हट नहीं सकते !

(भीष्म उस समय बहुत देर तक खड़े ही रहते हैं ।)

काशिराज—मैं धन्य हुआ । वीर देवव्रत ! आप मेरे अतिथि हैं, स्वयंवर की प्रथा का पालन कीजिए ।

भीष्म—काशिराज ! अब स्पष्ट ही कहना होगा ।

विदूषक—हाँ हाँ स्थान और प्रयत्न का ठीक ठीक प्रयोग कर के अभिधा में बातचीत करने ही से

वाक्य स्पष्ट होता है । वैसा ही करके आप हमारे सन्देह को दूर कीजिये कुमार !

भीष्म—तो सुनो, मैं स्वयं विवाह करने के लिए इन कन्याओं को हरने नहीं आया । मेरा भाई विचित्रवीर्य अभी तक अविवाहित है। उसी के लिए मैं कन्याहरण करने आया हूँ ।

काशिराज—परन्तु स्वयंवर के नियम-विरुद्ध आप ऐसा न कर सकेंगे ।

सब—हम सब लोग काशिराज की कन्याओं की रक्षा में आज देवव्रत को दिखा देंगे कि हम लोग देवव्रत से बल में कम नहीं हैं । हमारे होते हुए एक मल्लाह की लड़की के पुत्र से काशिराज की कन्याएँ विवाह नहीं कर सयतीं देवव्रत !

विदूपक—मल्लाह की लड़की के पुत्र से काशिराज की कन्याओं का व्याह ! क्या केवट के कुनबे वालों के मुँह में तुलसीदल और गंगाजल डाल दिया गया ?

भीष्म—इसी लिये मेरे भाई को इस स्वयंवर में निमन्त्रिन नहीं किया कि वह माता सत्यवती का पुत्र है ।

आज भीष्म आप लोगों के इसी पाप का प्रायश्चित्त करेगा। शान्तनु-पुत्र आज आपको दिखा देगा कि वह इन कन्याओं को सब लोगों के सामने से किस प्रकार उठाकर ले जासकता है। पराक्रम ही क्षत्रिय का सबसे बड़ा मूल्य है। आज उसी का प्रदर्शन करके मैं इन तीनों कन्याओं को लिए जाता हूँ।

काशिराज—यह अत्यन्त अनुचित है। स्वयंवर में विघ्न डालना एक प्रसिद्ध राजपुत्र को शोभा नहीं देता।

भीष्म—हाँ ठीक है, प्रसिद्ध राजपुत्र के भाई को स्वयंवर में निमन्त्रण न भेज कर उसके वंश की अवज्ञा करना तो एक राजा को खूब शोभा देता है!

(भीष्म तीनों कन्याओं को बलपूर्वक उठाकर बाहर खड़े रथ पर बिठाने लगते है)

सब राजा—आओ, हम सब लोग मिल कर इस आततायी देवव्रत को उसके किए का दण्ड दें।

(वही सब राजा भीष्म पर टूट पड़ते है। अकेले भीष्म सब को हरा कर अपना रथ आगे बढ़ा ले जाते है और सब राजा लोग हताश और घायल होकर गिर पड़ते है)

सब—महाराज काशिराज! शक्तिभर लड़ने पर भी हमारा कोई बस न चला। अब क्या हो सकता है?

काशिराज—राजागण ! आप लोग जाइये । जब आप लोगों के लिए कुछ न हो सका तो भला मैं ही अकेला क्या कर सकता हूँ ? (सब अपना सा मुँह लिए चले जाते हैं) आह, आज वह अशुभ स्वप्न सफल हुआ ।

विदूषक—हाँ महाराज, आज वह स्वप्न सफल हुआ, हमारे सब प्रयत्न निष्फल हो गए ।

काशिराज—स्वप्न कभी मिथ्या नहीं होता विदूषक !

विदूषक—हाँ, स्वप्न कब मिथ्या हो सकता है महाराज !

काशिराज—यह मेरा ही अपमान नहीं हुआ, भारत के सभी क्षत्रियों का अपमान हुआ है ।

विदूषक—हाँ महाराज, आपका ही अपमान नहीं हुआ, भारत के सभी क्षत्रियों का अपमान हुआ है ।

काशिराज—तुझे हँसी सूझी है ब्राह्मण ! दुष्ट मेरी ही बातों को दुहराता है ! जा चला जा यहाँ से । मैं तो अपने दुख में जल रहा हूँ । (स्वयं जाते हुए) जिसका डर था वही हुआ । मेरी भोली भाली कन्याओं का अपहरण ! ओह, अशक्त हूँ । मैं अपनी सारी शक्ति से भी उनकी

रक्षा न कर सका ! मेरे सब सहायक भी कुछ न कर सके।

(चला जाता है)

विदूषक—हत्तेरी विदूषकी की ! दिन रात हँसी ! जी हँस रहा हो तो भी रोना ही पड़ता है। भला पूछो, स्वयंवर न हुआ अपहरण हुआ। आखिर इन कन्याओं का विवाह तो हो ही गया। इसमें रोने की क्या बात है। जो मनुष्य इतना बली हो कि पचासों चरकटे राजा और स्वयं महाराज भी जिसका सामना न कर सके यदि उसके वंश में उन कन्याओं का विवाह हुआ तो इसमें बुराई ही क्या होगई ? दासता जीवन में सब से बड़ा अभिशाप है। दूसरे की इच्छा के अनुसार नाचना ही तो दासता है। किन्तु मैंने तो हृदय का सुख, वाणी का सौन्दर्य देकर यह दासता मोल ली। बदले में क्या मिला तिरस्कार, जिसका प्रवाह मनुष्यता के संसार से बाहर है। [खीझ कर चलने लगता है]

[इसी समय वृद्धश्रवा अपनी धुन में विदूषक से टकरा जाता है।]

वृद्ध—तुझे दीखता नहीं है क्या ?

विदूषक—किन्तु तुम्हें देख पड़ता है इस में ही क्या धरागा है ?

वृद्ध—अरे तो क्या मैं अन्धा हूँ ? मूर्ख, महाराज वृद्धश्रवा को अन्धा कहता है। किन्तु ठीक मैं तो अन्धा ही हूँ। अन्धा न होता तो एक रानी के रहते दूसरी की खोज में यहाँ क्यों आता। मैं अन्धा ही हूँ भाई।

विदूपक—आँखें होते हुए भी संसार में अन्धे अधिक हैं। मैं भी अन्धा हूँ और तुम भी अन्धे हो। मैंने कामना के मोल पर अपनी आँख, कान, नाक सभी इन्द्रियों को बेच डाला है। अपने हृदय की प्रत्येक धड़कन को पराई इच्छाओं की भेंट चढ़ा दिया है और तुम भी अन्धे हो जो आँख का तिनका निकालने के लिये शहतीर खोजते हो।

वृद्धश्रवा—तुमने ठीक कहा भाई, ठीक कहा। (जाता है)

विदूपक—ठीक तो कहा ही है। परन्तु सदा से मेरे ठीक कहते रहने पर भी परिणाम ग़लत ही हुआ है। इस 'ठीक' का कोई मापदण्ड नहीं है। तेज़ी से दौड़ते हुए रथ पर बैठकर देखने से आसपास की वस्तुएँ भी दौड़ती हुई दिखाई देती हैं परन्तु वह ठीक नहीं है अपने रथ का दौड़ना ही ठीक है। बुद्धि एक को ठीक मानती है, परन्तु

आँखें दूसरी को। इसी लिए तो उस बूढ़े राजा ने कहा कि आँखें रहते हुए भी मैं अन्धा हूँ। मैं भी तो आज तक अन्धा बना रहा हूँ। चलूँ, शायद किसी जगह मेरी इन आँखों का इलाज हो सके।

(जाता है)

पटपरिवर्तन

———

पांचवाँ दृश्य

(माता सत्यवती अपने महल में)

सत्यवती—भीष्म सुधी भी है और बली भी । भीष्म ने ही मेरे एकमात्र पुत्र की मर्यादा रखी । अन्यथा मल्लाह की लड़की के पुत्र को कौन राजपुत्री वरण करती ? भीष्म तुम धन्य हो। छमछम करती दो बहुएँ आगई । कितना सुन्दर नाम है। अम्बिका और अम्बालिका । पर मेरे पुत्र को जैसे कोई प्रसन्नता ही नहीं हुई। उसके भाग्याकाश में चिन्ता और शोक के काले बादल छाये रहते हैं। न…न, रोग न हटेगा। इस जीवन में धुआँ ही धुआँ है, प्रकाश नहीं। परन्तु इससे क्या ? धुआँ ही गरमी का चिह्न है। आज नहीं तो कल प्रकाश होगा ही ।

(विचित्रवीर्य का प्रवेश)

विचित्र०—माता, तुम धन्य हो । भैया के प्रेम और तुम्हारे आशीर्वाद से कुछ दिन जी रहा हूँ अन्यथा अब तक—

सत्यवती—(सिर पर हाथ फेरती हुई) बेटा, ऐसा क्यों

कहते हो दुनिया सुख खोजती है और तुम सुख में उदासी खोज रहे हो बेटा ! कैसी सुन्दर बहुएँ हैं।

विचित्र०—हाँ माँ, सुन्दर हैं और भोली भी।

सत्यवती—क्या तुम्हारा जी उनसे नहीं बहलता ?

विचित्र०—हाँ, बहलता तो है।

सत्यवती—तुम उदास क्यों रहते हो बेटा ? भीष्म-सा जिसका भाई हो, अम्बालिका और अम्बिका जैसी जिसकी सुन्दर दो बहुएँ हों उसे उदास रहने की आवश्यकता ?

विचित्र०—(कुछ सोचकर) सत्यवती जैसी जिसकी माता हो उसे उदास रहना ही चाहिये।

सत्यवती—व्यङ्ग्य है व्यङ्ग्य।

विचित्र०—सब कुछ हो सकता है। माँ, पिता के प्रति तुम्हारे विद्रोह की अग्नि में मैं जल रहा हूँ। भाई चित्रांगद भी उसी आग में जले।

सत्यवती—(मौन रहकर) आः यदि उस विद्रोह में आग होती। बेटा, भैया ने तुम्हारे साथ जो उपकार किया है क्या तम उसे भूल गये ?

विचित्रवीर्य—सब भूल गया हूँ । कुछ भी याद नहीं है। मैं संसार में धूमकेतु की तरह हूँ, जिसके पैदा होते ही उत्पात होते हैं। अग्नि का काम जलाना है यदि पेट की आग को भोजन न मिले तो वह भी शरीर को ही खाती है। खाना उसका काम है।

(अम्बा का प्रवेश)

सत्यवती—आओ बेटी, सुना है तुमने स्वयंवर से पूर्व ही सौभराज को वरण कर लिया है। इसी से विचित्रवीर्य ने तुम्हारे साथ ब्याह······। यदि तुम चाहो तो······।

अम्बा—(रोष के साथ) सत्यवती, यदि मेरी अवस्था में तुम होतीं तो जानतीं कि मेरा कितना अपमान·········, (ओंठ फड़कने लगते हैं) तुम्हारे अविवेकी पुत्र ने मेरा और मेरे भावी पति······। (क्रोध से काँपने लगती है)

सत्यवती—शोक है कि तुम्हारी अवस्था को पुत्र भीष्म न जान पाए।

अम्बा—बल का घमण्ड करने वालों की आँखें नहीं होतीं सत्यवती! उनका विवेक अन्धा होता है। उनका

कर्तव्य आँधी के समान है जिस में धूल के कणों के सिवा और कुछ भी नहीं है।

सत्यवती—समझ गई, पुत्री तुमने मेरी आँखें फिर खोल दीं। दबी हुई आग फिर भड़का दी। मद के आवेग के सामने विवेक कभी नहीं ठहरा बेटी। मैं सब समझती हूँ।

विचित्र०—फिर वही! वही तो देख रहा हूँ। सब साफ़ है। क्या अब भी कुछ समझना बाकी है। हा···।

(आवेश में आकर बेहोश हो जाता है)

सत्यवती—हाय मेरे पुत्र, (उसके ऊपर गिर जाती है विक्षिप्त सी होकर अम्बा से) जाओ, बेटी जाओ, जहाँ तुम्हारे सींग समाएँ वहाँ जाओ। यहाँ न रहो। मैं पगली होजाऊँगी। जा-जा, नहीं न जा। उफ़! दम घुटा जा रहा है।

(बेहोश हो जाती है)

अम्बा—महारानी, जलो। इसी प्रकार जलो, पाप पर पाप करने वाले की पत्नी! अविवेक की आँधी में बहने वाले की माता! जलो। तुम भी जलो और मैं भी जलूँ—(जाती है)

पट परिवर्तन

———

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान—सौभ नरेश शाल्व का निज् कमरा

शाल्व—बड़ा अपमान हुआ मंत्री । बड़ा अनादर ।

मंत्री—बड़ा अपमान महाराज । घोर अपमान । आपके देखते देखते भीष्म कन्याओं को भरी सभा से छीन ले गये ।

विदूषक—मैं होता तो वहीं मर जाता वहीं ! इतना अपमान क्या कोई कहने की चीज़ है ? वहीं सिर पटक डालता !

शाल्व—परन्तु इससे क्या । हमने अपनी करनी में कोई कसर तो नहीं छोड़ी ?

विदूषक—महाराज, आपने करनी में कसर ही क्या छोड़ी होगी । नहीं बिलकुल नहीं ! ज़रा भी नहीं ! (मुँह लटका कर बैठ जाता है ।)

शाल्व—जी जल रहा है। उफ़, क्या से क्या होगया ।

विदूषक—(इधर उधर देखकर) अरे कोई है, गुलाब जल, सेब का मुरब्बा, चाँदी के वर्क लाओ, लाओ, जल्दी लाओ।

मंत्री—क्यों क्या बात है ?

विदूषक—महाराज का जी जो जल रहा है।

शाल्व०—मूर्ख कहीं का। इस जलन का यह उपचार है ? यह प्रेम की आग है । आः ग्रीष्म ऋतु में शीतल जल के फव्वारे के समान उल्लास पैदा करने वाली मधुकणों सी स्वच्छ, मादकता का कोश अम्बा से सदा के लिये वियोग हो गया। बसन्त के बजाय ग्रीष्म आ गया। जलूँगा, इसी जलन में हृदय की गति का अन्त होगा।

(अम्बा का प्रवेश)

अम्बा—प्रतीक्षा के फड़फड़ाते हुए पंखों से उझकनेवाले प्रियतम, अम्बा का प्रणाम स्वीकार करो नाथ !

शाल्व—(चौंककर) हैं, यह क्या, अम्बा तुम कहाँ ? कहीं मेरे कान धोखा तो नहीं दे रहे ? आँखों की पुतलियों को चंचलता ने कहीं चौंधिया तो नहीं दिया ! तुम आ गई ! प्रिये, तुम भीष्म के वज्र के समान कठोर पंजों से

छूट कर कैसे आगई ? मेरे हृदय की गति बोलो (आलिंगन को हाथ बढ़ाता है) नहीं, ठहरो, (कुछ सोचकर) तुम उच्छिष्ट हो। आकाश से मैले वर्तन में गिरी हुई अमृत की बूँदें भी पीने योग्य नहीं होतीं। स्त्री ही संसार में एक ऐसा पदार्थ है जो एक बार, केवल एक बार ही स्पर्श की जाती है। तुम जाओ।

अम्बा—महाराज शाल्व, मेरा विवाह नहीं……। देवव्रत ने यह जानकर कि मैंने पूर्व ही शाल्वराज को अपना पति चुन लिया है, मुझे तुम्हारे पास आने की आज्ञा दे दी। मैं अभी तक…(उत्सुकता से देखती है)

शाल्व—सब कुछ ठीक होते हुए भी क्षत्रिय जूठन नहीं खाते। एक के लिए हरी गई कन्या को शाल्व कभी ग्रहण न करेगा। जाओ, तुम्हारे लिए उपयुक्त वर विचित्रवीर्य ही है, हम नहीं।

अम्बा—राजन्, मैं मन से आपको पति वरण कर चुकी हूँ। अब मुझे दर दर भटका कर मेरा और अपमान न कीजिये।

विदूषक—(हसकर) स्त्रियों का मानापमान ही क्या ? अहह, अबला का मान ही क्या और अपमान……।

शाल्व—अम्बा, तुम जाओ अपना मार्ग लो।

अम्बा—(क्रोध से) स्त्रियों का मानापमान क्या ! पुरुष समाज की इतनी धृष्टता ! स्त्रियों के सौन्दर्य की काई पर फिसलने वाली पुरुषजाति ने आज से नहीं सदा से स्त्रियों का अपमान किया है। शाल्व, वे दिन कहाँ गये जब तुम मेरे लिए सिंह की दाढ़ों में सोने की प्रतिज्ञा कर रहे थे! मेरे लिये संसार को छोड़ देना चाहते थे ! मेरे पैर में लगे हुए काँटे को आँखों से निकालना चाहते थे ! जीवन के ध्येय में सब से मुख्य स्थान मेरा था ! किन्तु नहीं, अम्बा सब कुछ समझ गई । ऐश्वर्य, पद, मर्यादा का आडम्बर रचनेवाले मनुष्य ! सहस्रों सूर्य के उज्ज्वल और प्रचण्ड प्रकाश में हज़ारों शपथ लेने पर भी तुम्हारा विश्वास नहीं किया जा सकता । मनुष्यत्व के तुच्छ वैभव के सामने स्त्री की इतनी अवहेला ? संसार ! तू स्थिर क्यों है ? आकाश के तारे नित्य गिर कर अपशकुन की सूचना देते हैं, परन्तु इतनी क्रूर मनुष्यजाति का उसने अब तक नाश क्यों नहीं किया ?

शाल्व—स्त्री जाओ, विवेक और वीरता की दोनों आँखों से जगत् को वश में करनेवाला पुरुषजाति किसी

भी तरह तुम्हारे बहकाने में नहीं आ सकती। द्वारपाल! इस पागल स्त्री को यहाँ से निकाल दो।

अम्बा—निकाल दो, निकाल दो, मैं स्वयं जाती हूँ। मैं पागल हूँ पागल? मैं अबला हूँ, अकिञ्चन हूँ, अंकशायिनी हूँ। मेरी बिसात ही क्या? पुरुष की आँखों के इशारों पर नाचनेवाली दीन स्त्री की शक्ति ही क्या विश्वनायक, तुम देख रहे हो! तुम भी क्यों देखोगे? पुरुष रूप से रहनेवाले परात्पर, तुम्हें मेरी क्या परवा, नहीं मैं किसी की शरण न लूँगी। मैं पागल हूँ। भैरवी, तेरा खप्पर क्यों खाली है? इन ढोंगी नरमुण्डों से एक बार अपना खप्पर भर। जाती हूँ। शाल्व, मैं पागल हूँ। तुम देखोगे इस स्त्रीजाति के अपमान से ही तुम राजा लोगों का, नहीं नहीं, समूचे भारत का नाश होगा। मैं जाती हूँ। रण की अग्नि की चिनगारी में चटचटाते नरमुण्डों को देख कर ही मुझे सन्तोष होगा। जाती हूँ। किन्तु जाती हुई एक बार, हाँ एकबार तुमसे कहे देती हूँ कि इसी मान अपमान के नरक में, क्षत्रियत्व की अविवेक भरी आग में, इस पापी समाज का अनन्तकाल के लिए नाश होगा। वीरता और

विवेक की आँखों से देखने का छूँछा आडम्बर रचनेवाली क्षत्रियजाति को सुदूर भविष्य में दास, निकृष्ट दास बनना होगा। मैं जाती हूँ। मैं पागल हूँ। पागल—पागल—

[जाती है]

सब—(सन्नाटे में आकर) क्या कह गई ? कुछ समझ में नहीं आया।

[अम्बा लौटकर]

अम्बा—समझ में नहीं आया ! समझोगे, उस दिन समझोगे जब इस क्षत्रियता के मद में एक दूसरे पर अविश्वास होगा। राजवैभव की काली आँधी में किनकियों के के समान तुम्हारा क्षत्रियत्व कराल काल के पर्वतों से टकरा कर चूर चूर होगा। जब रक्त से सने हुए अभिमानी राजमुण्डों के बटवारे के लिए गिद्धों, चीलों और भूतों के न्यायशास्त्र खुलेंगे उस दिन तुम समझोगे अविवेकी राजा !

[बाहर हो जाती है]

सब—बड़ी भयंकर है।

शाल्व—बड़ी मीठी भी।

(भौंचक्के होकर बैठे रहते हैं)

पटाक्षेप

दूसरा दृश्य

[अस्तव्यस्त दशा में अम्बा एक दिशा की ओर बड़े वेग से जाती हुई]

अम्बा—यह संसार साँप के समान है और मैं उसकी छोड़ी हुई कैंचुल हूँ। निःशक्त, निःसहाय अबला। पुरुष की घृणा, अभिमानी का तिरस्कार। मनुष्यता का पतन। इतना अभिमान! राजमद का इतना घमण्ड! शाल्व! नीच शाल्व! सौन्दर्य के दीपक पर जल मरने वाले पतंगे! रूढ़ियों के दास? जाने दो, इसमें उसका दोष ही क्या है? सब दोष मेरा है मेरा। मेरा दोष है। पर मैंने क्या किया? इसमें मेरा क्या वश था? जाने दो इन बातों को। प्रेम, प्रेम वासना की आँखें पोंछने के लिए बनाया गया है। वासना स्वार्थ की सखी है। मेरा इसमें क्या दोष है। सब अपराध भीष्म, क्रूर भीष्म का है जिसने ब्रह्मचर्य के शिखर पर खड़े होकर आत्मगौरव को उकसाते हुए मुझे नीचे, ठीक नीचे अपमान की खाई में धकेल दिया है। कहीं भी कोई

सहारा नहीं है। आश्रय टूट गया। दरिद्री के भाग्य की तरह ठोकरें खा रही हूँ। कहीं किनारा नहीं।

बेचैन होकर गाती है—

किसने कली को छेड़ कर
मादक पवन चला दिया
क्यों गुनगुना के कान में यौवन ने गीत गा दिया।
मैं अपने आपे में थी भली
अपने सुखों में थी पली
पापी पवन ने तोड़ कर रज में मसल मिला दिया।
आशाएँ पिस गईं इधर
नैराश्य हँस रहा उधर
नफ़रत की धुँधली आग हूँ धप से जिसे बुझा दिया।
यौवन की मुग्ध श्वास में
ज़हरीली वायु चल रही
जग ने जलन की खाक को हँस हँस मेरी उड़ा दिया।

ओह, [कुछ सोचकर] यह क्या ? लोग कर्तव्य कर्तव्य चिल्लाते हैं। क्या मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है। नहीं, मैं भी कुछ कर सकती हूँ। पर जाऊँ कहाँ ? भीष्म के पास, नहीं, भीष्म के पास नहीं जाऊँगी। याद आगया, इस समय भीष्म को

हरानेवाले एक ही मनुष्य हैं वह हैं परशुराम। यदि मैं उनमें क्रोध उत्पन्न कर सकूँ। यदि अपनी करुणाकथा से उन्हें द्रवित कर सकूँ तो अवश्य मेरी इच्छा—प्रतिहिंसा······। चलूँ।

[जाती है]

पटाक्षेप

तीसरा दृश्य

[अम्बिका अम्बालिका बाग में टहल रही हैं]

अम्बालिका—आजकल चारों ओर बसन्त है। सुघड़ बसन्त।

अम्बिका—सब ओर पीलापन है। सब ओर बसन्त का अल्हड़पन है। आम में बौर निकला है। सरसों फूल उठी है। कैसा है बसन्त! संसार जगमगा उठा है।

अम्बालिका—और हमारे लिए?

अम्बिका—सूना, सब कुछ सूना। मुर्दनी रंग का पीला, जिस में श्वास नहीं है! राजा बीमार हैं।

अम्बालिका—आम के बौर की सुगन्ध से नाचती हुई कोयल की कूक!

अम्बिका—विष के बुझे हुए तीर सी।

अम्बालिका—फूल पर मँडराते, गुनगुनाते हुए भौंरों का आलाप!

अम्बिका—हरेभरे घाव पर विच्छू के डंक के समान। हमारे लिए यह बसन्त है।

अम्बालिका—शिशिर है शिशिर ! राजा बीमार हैं !

अम्बिका—हाँ राजा बीमार हैं। उनकी आँखें आँसुओं से डबडबाई रहती हैं।

अम्बालिका—हृदय किसी अज्ञात चिन्ता से भरा रहता है।

अम्बिका—सासू जी भी दुखी हैं। भला कैसी लगती है। क्या तुझे कोई उपमा नहीं सूझती ?

अम्बालिका—सूझती तो है।

अम्बिका—क्या ?

अम्बालिका—पूर्णमासी के चाँद पर पुती हुई कालोंच (ग्रहण) की तरह उनका चेहरा है।

अम्बिका—कुछ कुछ ठीक है, और बड़े दादा।

अम्बालिका—वे बड़े महात्मा हैं।

अम्बिका—बड़े वीर। उनका चेहरा भी बासी खरबूज़े और पाल के आम की तरह पिलपिला हो रहा है।

अम्बालिका—क्यों उन्हें क्या हुआ ?

अम्बिका—बहन को लाने के कारण । वे समझते हैं अम्बा के साथ अन्याय हुआ। वह शाल्व के साथ ब्याह करना चाहती थी, उसे हर लाकर उन्होंने अच्छा नहीं किया।

अम्बालिका—और बहन का क्या हुआ।

अम्बिका—सुना है शाल्व ने उनके साथ विवाह नहीं किया।

अम्बालिका—यह तो बड़ी बुरी खबर है। अब वे कहाँ जाँयगी। हाय, आग के सिर पर रहने वाले धुएँ की तरह उनका जीवन चिन्ता, बेचैनी, विषाद का घर बन गया है। शाल्व, दुष्ट शाल्व ने उन्हें कहीं का न रखा।

अम्बिका—हम ही कहीं की सुखी हैं । राजा बीमार हैं। सासू जी उदास रहती हैं । बड़े दादा (भीष्म) गुमसुम बने रहते हैं। महल भाँय भाँय करते हैं । सब तरफ़ सूना है।

अम्बालिका—यह कैसी मर्यादा है ?

अम्बिका—यही तो समाज की मर्यादा है। असमर्थ रोगी पुरुषों के विवाह के लिए एक नहीं, तीन तीन कन्याओं को हर लाना, स्त्रीत्व, समाज और मनुष्यता की हत्या नहीं

तो क्या है ? यह राज्य की पदवी, मर्यादा की रक्षा है बहन। संसार सदा बल की अन्धी आँखों से देखता आया है। विवेक केवल चिल्लाने की वस्तु है। जो पदार्थ जैसा दीखता है वह ठीक वैसा ही नहीं होता। हमारे समाज का महल स्वार्थ की नीवों पर बना है। उस समाज की रक्षा के साधन धन, रूप और बल हैं।

अम्बालिका—एक के दोष को तुम समूचे समाज पर नहीं मढ़ सकती बहन, समाज संसार की उन्नति का साधन है, बिगाड़ का नहीं।

अम्बिका—जब इतने विवेकी पुरुष जो समाज के आदर्श हैं, भूल करते हैं बाकी कौन रहा जो इसकी रक्षा करेगा।

अम्बालिका—यह बल का व्यर्थ घमण्ड है।

अम्बिका—नहीं, यही परम्परा है, सुनती हूँ सदायौवना सास् जी को राजा के बूढ़े पिता ने वरण किया और थोड़े दिन बाद मर गये। हमारा भी यही···।

अम्बालिका—चुप, हमें पति के प्रति कुछ भी कहने का अधिकार नहीं है।

अम्बिका—यह हमारा अधिकार किसने छीन लिया, समाज ने ही तो ? मैं तो कहती हूँ हम सदा से मनुष्य की इच्छाओं की दासी हैं। आत्म-समर्पण हमारा धर्म बना दिया गया है। इस अनूठे धर्म ने हमारी अभिलाषाओं की सदा से हत्या की है बहन ?

अम्बालिका—चुप, देखो सासूजी आ रही हैं।

(सत्यवती का प्रवेश)

सत्यवती--चुप मत रहो बेटी। चुप रहने की आवश्यकता भी नहीं। जिस पाप ने मेरा नाश किया, मैंने स्नेह और अज्ञान के वश फिर वही पाप किया। केवल इस दुष्ट समाज की मर्यादा के लिए। न, तुम चुप मत रहो। स्त्रियों के प्रति घोर अन्याय हो रहा है। (आँखों में आँसू भरकर) हा, इस पाप का फल इस नारकी समाज को अवश्य भोगना पड़ेगा।

(विचित्रवीर्य लड़खड़ाता हुआ आकर एक आसन पर लेट जाता है।)

विचित्र०--भोगना पड़ेगा तो भोगे मैं भी तो भोग रहा हूँ ! भोगूँगा आजीवन भोगूँगा। मेरे संसार में प्रेम था ही कब ? मेरे यहाँ तो इस संसार के सुख का प्रकाश भी मेरी उसाँसों के धुएँ से मैला हो गया। मैंने तो हृदय

में उमंग की भूमिका बँधने पर केवल संसार को 'प्रेम' ऐसा गुनगुनाते पाया है।

सत्यवती--ओः इससे तुम्हारा क्या दोष है बेटा, सब दोष मेरा है। तुम तो बीमार थे। यहाँ क्यों चले आये?

विचित्र०—मैं भी तो तेरा ही दोष हूँ माँ, पिता का दोष हूँ। रोगी, काहिल, उदास। विधाता का···। (बेहोश हो जाता है)

सत्यवती—(दौड़कर) क्या हुआ बेटा, कैसी तबीयत है। (हाथ फेरती हुई) अरे कोई है, (प्रतिहारी आता है) वैद्य को बुलाओ, भीष्म को बुलाओ।

प्रतिहारी—जो आज्ञा। (जाता है)

विचित्र०—(कुछ संज्ञा प्राप्त करके) मैं उदासी के उदर से पीड़ित आशा का परिवार लेकर संसार में आया। आज उन्हें यहीं···छोड़कर······इस संसार से······ जाता हूँ। जीवन······का······अवसान······। प्रलय······की······रा··· त्··· रि। (श्वास बन्द हो जाती है)

सत्यवती—हा, सब कुछ समाप्त···(चेतनाहीन होकर पुत्र के ऊपर गिर पड़ती है अम्बिका और अम्बालिका रोने लगती हैं।)

(भीष्म का प्रवेश)

भीष्म—अरे, यह क्या, राजा की यह दशा ! मेरे पापों का फल ! मेरे मूक कर्मों का परिणाम ! सब कुछ सहूँगा ! धैर्य की आँखों पर पट्टी बाँधकर सन्तोष की टूटी हुई बैसाखी हाथ में लेकर अब चलना होगा। हे भगवन् !

पटपरिवर्तन

अपराधों की गठरी सिर पर वहन कर सकता है केवल प्रण ..... ।

परशुराम—तुम्हें मेरी आज्ञा का पालन करना होगा ।

भीष्म—विवश हूँ, क्षमा कीजिए ।

परशुराम—(क्रोध से) क्षमा ! क्षमा करना तो मैं सीखा ही नहीं हूँ भीष्म ! इस मेरे कुठार ने क्षमा तो सीखी ही नहीं । तुम्हें मेरे साथ युद्ध करना होगा, युद्ध ? क्षत्रिय-कुलांगार युद्ध करो ? (शस्त्र उठाते हैं)

भीष्म—गुरुदेव, मैं आपका शिष्य हूँ, मुझ से युद्ध न हो सकेगा । मैं हार मानता हूँ । मुझे क्षमा कीजिए ।

परशुराम—भीष्म तुझे अभिमान हो गया है । मैं युद्ध के बिना तुझे न छोड़ूँगा । आ युद्ध कर !

भीष्म—हा, यह भी देखना शेष था । गुरु से युद्ध ! एक तरफ़ प्रण और दूसरी तरफ़ गुरु की आज्ञा । नहीं महाराज, मैं क्षत्रिय हूँ युद्ध करूँगा । युद्ध ही क्षत्रिय का असली रूप है । एक पाप और सही । अपराध की पोटलियों में यही एक बाक़ी था । परन्तु मैं क्षत्रिय हूँ । मुझे युद्ध

करना ही होगा । निमन्त्रण पाने पर काल से भी लड़ना क्षत्रिय का धर्म है ।

परशुराम—आज धर्म धर्म चिल्लाते तुझे लज्जा नहीं आती । एक निरपराध कन्या का अपहरण करके उसका सर्वनाश करने के समय यह धर्म कहाँ गया था ? आ युद्ध कर ।

भीष्म—आइये गुरुवर । (दोनों युद्ध करते हैं)

अम्बा—धर्म का बल और घमण्ड से युद्ध हो रहा है । सुदूर क्षितिज में आशाओं का मन्दिर रह रह कर गगनचुम्बी बनता जा रहा है । पर यह क्या, भीष्म के तीखे बाणों से महात्मा परशुराम मूर्च्छित हो गये । अरे, उन्होंने भीष्म से हार मान ली ! पाप, तूने सदा से धर्म पर विजय पाई है ! क्या बस, इतना ही ?

(स्वयं मूर्च्छित हो जाती है)

भीष्म—गुरुदेव, अपराध क्षमा हो । मेरे तीखे बाणों ने गुरुदेव के शरीर को क्षत विक्षत कर दिया ! हा !!

परशुराम—(चेतना प्राप्त करके) जाओ पुत्र, तुम अजेय हो । तुम्हारी कष्टसहिष्णुता, तुम्हारी दृढ़ता अपूर्व है ।

इस लिए संसार में तुम अजेय हो। जाओ, मेरा कुठार तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।

भीष्म—(हाथ जोड़कर) गुरुदेव, हा ! आज मुझे अपने गुरु से भी युद्ध करना था। हे धर्म, तू बड़ा बलवान है। कर्तव्य की उत्ताल तरंगों पर नाचनेवाले प्राणी को समय का प्रवाह कब कहाँ ले जाय यह जानना अत्यन्त कठिन है। (जाते हैं)

(पीठ फेर कर और देखकर)

परशुराम—अवसर चूकने पर पछतावे जैसी दीन स्त्री, मैं तुम्हारी आशा पूरी न कर सका। परशुराम का बल शस्त्र ही था। इस शस्त्र के प्रभाव से मैंने त्रिलोकी को जीता, किन्तु आज उस शस्त्र से मैं एक कन्या की इच्छा पूरी न कर सका ? जाओ महादेव की तपस्या करो वे ही तुम्हें भीष्म से बदला लेने योग्य बना सकेंगे।

अम्बा—प्रभुवर, मेरे भाग्य की कड़ियाँ टूटी हुई हैं। मेरी आत्मा का हाहाकार अधूरा है। मेरे दु:खों की घटा में बिजली नहीं है। जाओ, प्रभु जाओ। मैं

प्रलय की अग्नि में अपने को जलाऊँगी और जब तक भीष्म से उसका बदला न लूँगी, जलती ही रहूँगी। मैं मृत्यु से विनाश, रुद्र से संहारी अट्टहास, काल से क्रोध, विद्युत से उग्रता बटोर कर अग्नि के समान स्वयं जलकर उसे जलाऊँगी।

(क्रोध में यह उद्गार निकलते हैं—)

शेष की अशेष फुंकार का प्रहार लिये
रुद्र रणचण्डी की भीषणता धारूँगी
धाराधर, भूधर, धरा की वन्हियाँ समेट
कम्प, हड़कम्प फैला अरि को उभारूँगी
रुद्र के तृतीय नेत्र-ज्वाल सी प्रचण्ड बन
चण्ड यम दण्ड सी करालता पसारूँगी
उतारूँगी धरा पै ध्रुव धूमकेतु खींच खींच
व्रती देवव्रत को मैं व्रत कर मारूँगी

इस जीवन में नहीं तो दूसरे में, दूसरे में नहीं तो तीसरे में। जाओ, हा, अबला हूँ इसी से कुछ न कर सकी। मैं कोमल हूँ इसी से प्रचण्ड पवन ने मुझे झकझोर दिया।

(एक ओर को चली जाती है)

पटपरिवर्तन

पाँचवाँ दृश्य

[दीन मलीन वेश में अम्बिका और अम्बालिका एक जगह बैठी बातें कर रही हैं]

अम्बालिका—बहन, अब हम विधवा हैं ?

अम्बिका—समाज की कलंक हैं । जीती हुई भी मरी हुई हैं।

अम्बालिका—इसलिए कि राजा मर गए ?

अम्बिका—इसलिए कि हम पति के आश्रित थीं वही नहीं है ।

अम्बालिका—और बहन ?

अम्बिका—परित्यक्ता, अनादृता । सुखों का यही परिणाम है। कोमल, सुगन्धित कुसुम का अन्त मिट्टी है। मृत्यु संसार का ब्रह्मपुत्र है जहाँ सब विचार धाराएँ, सारे आत्मविश्वास, समूची कल्पनाएँ शान्त और लीन हो जाती हैं । वहाँ न समाज के बन्धन हैं न उसके आदर्श ।

अम्बालिका—मैं तो देखती हूँ कि पिता के घर से यहाँ आकर मुझ में कुछ भी अन्तर न पड़ा।

अम्बिका—अवस्था का भेद है बहन ! पहले हम कन्या थीं और अब विधवा। समाज का दूसरा नाम बन्धन ही तो है? समाज के भीतर एक बार प्रवेश करने पर अछूती रहते हुए भी वक्रदृष्टि से ताकनेवाले उसके नियमों ने हमारा रूप और नाम बदल दिया?

अम्बालिका—इस समाज को किसने बनाया?

अम्बिका—पुरुष ने, मकड़ी मक्खियों को फँसाने के लिए जाला बुनती है और अपने आप भी उसमें घिर कर बैठ जाती है। यह सब कोई जानता है कि जाला मकड़ी का अनिष्ट नहीं कर सकता किन्तु कदाचित् ही कोई मक्खी आज तक उससे बचकर निकली हो। इसी तरह यह बलवान पुरुष है उसने स्वयं प्रविष्ट होकर अबला को फाँसने के लिए ही इस समाज का निर्माण किया है।

अम्बालिका—स्त्री ने उस समाज निर्माण में भाग क्यों नहीं लिया बहन?

अम्बिका—निर्बलता के कारण। अनादिकाल से पुरुष में स्त्री के प्रति तुच्छता का विचार रहा है। सभ्यता के उत्कर्ष में भी स्त्रियों का स्थान बहुत ऊँचा नहीं हुआ।

अम्बालिका—यही कारण है बहन अम्बा पर पुरुष द्वारा स्पर्श किये जाने मात्र से अशुद्ध, अस्पृश्य और कुलटा होगई, किन्तु राज्य के किसी भी तपोनिष्ठ महर्षि ने बड़े दादा का हाथ पकड़ कर उनसे नहीं पूछा कि यह तुम ने क्या किया ?

अम्बिका—इस पर भी वे विवेकी, कर्तव्यनिष्ठ, विद्वान् और ब्रह्मचारी हैं। क्षत्रिय हैं।

अम्बालिका—शाल्व से किसी ने कुछ नहीं कहा !

अम्बिका—वह भी धर्मात्मा है श्रेष्ठकुलोत्पन्न है।

अम्बालिका—ठीक है, इसी लिए स्त्री को अन्धे, रोगी कोढ़ी पति के प्रति कुछ भी कहने का अधिकार नहीं। क्या तू देख नहीं रही आजकल हम सासूजी को एक आँख नहीं भातीं। वे कहती हैं ऐसी दुष्टा हैं आते ही पति को खा गईं। मानों हम राक्षसी हैं।

अम्बिका—सुनती हूँ बड़े दादा से महात्मा परशुराम हार गये।

अम्बालिका—कैसे ?

अम्बिका—उन्होंने बहन का पक्ष लेकर भीष्म से युद्ध किया था किन्तु वे हार गये। अब बहन शिव की कठिन तपस्या कर रही हैं। इस वंश की कुशल नहीं दीखती। हम समाज और होनहार के हाथों की कठपुतली हैं। होगा सो देखेंगी। 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।'

अम्बिका—हम विधवा हैं इसी से। किन्तु बहन को क्या होगया है, वे इस तरह इस कुल के पीछे क्यों पड़ी हैं ?

अम्बालिका—न मालूम, कुछ भी तो दिखाई नहीं देता ?

अम्बिका—चारों तरफ़ अँधेरा है। ऊपर प्रलय जलद हैं और नीचे भूकम्प की अस्थिर गड़गड़ाहट है। सब ओर सन्नाटा है कहीं भी कुछ नहीं है। तुझे याद है उस दिन मैंने तुझ से एक कहानी कही थी।

अम्बालिका—किस दिन ?

अम्बिका—काली रात थी, आकाश में बादल छा रहे थे!

अम्बालिका—याद तो नहीं आती।

अम्बिका—टपटप करके दो बूँदें आकाश से गिरीं !

अम्बालिका—गिरी होंगी—मुझे याद नहीं !

अम्बिका—पहले दोनों फूल पर गिरीं, फिर काँटे पर लुढ़क पड़ीं ।

अम्बालिका—कुछ याद तो आता है । हाँ फिर !

अम्बिका—काँटा बूँदों के बोझ को न संभाल सका, वे दोनों मिल कर ज़मीन पर आ गिरीं, और प्यासी पृथ्वी ने उन्हें पी लिया !

अम्बालिका—बस, यह अन्तिम बात ही शेष है ।

अम्बिका—हाँ, अन्तिम बात ही शेष है । इतना ही तो जीवन है । काल की आँखें बड़ी तीव्र हैं, वह दूर दूर से अपना शिकार ढूँढ कर लाता है । सब ओर उसका क्षितिज है । जहाँ चाहे वहाँ घटनाओं को मिला कर नवीनता उत्पन्न कर देता है । बस, इतने से ही इसका नाम संसार है । चलो, सासूजी आती होंगी ।

[दोनों जाती हैं]

पटाक्षेप

छठा दृश्य

स्थान—गंगा के किनारे का तपोवन

(अम्बा घोर तप में मग्न है)

अम्बा—(धीरे धीरे आँख खोलकर अँगड़ाई लेती हुई) क्या अब भी कुछ नहीं। विराट् की तन्त्रियों में कोई भी झनकार नहीं? ब्रह्माण्ड के हृदयपिण्ड से निकलने वाले फुफ्फुस में कोई श्वास नहीं। वेदना के पर्दों में कोई कराह नहीं? नहीं अभी पूर्ण नहीं हुआ। साधना अधूरी……।

(शिव का प्रादुर्भाव)

शिव—बेटी अम्बा, मैं तेरी साधना से प्रसन्न हूँ। तेरे कठोर तप के प्रभाव से मेरा आसन डगमगा उठा है। बोल, क्या चाहती है?

अम्बा—धूर्जटे, मेरी केवल एक ही इच्छा है और वह जगत्प्रसिद्ध देवव्रत का नाश। महारुद्र, मैं केवल-केवल यही चाहती हूँ।

शिव—बेटी, तेरी साधना के बल पर मैं तुझे संसार की सम्पत्ति दे सकता हूँ, ऐश्वर्य के विशालतम प्रदेश का तुझे स्वामी बना सकता हूँ, कल्याण और विलास के हिमालय पर बिठा सकता हूँ, परन्तु संहार की प्रवृत्ति तामस है। साधना का फल तामस नहीं होना चाहिए ? और कुछ माँग लो ?

अम्बा—अपने जीवन के ध्येय में, अपने हृदय की अशान्ति में, ऐश्वर्य के ऊँचे शिखरों पर बैठकर भी मैं अपने प्रतिद्वन्द्वी भीष्म का नाश ही संसार की सब से ऊँची सफलता समझती हूँ, वही माँगती हूँ नाथ !

शिव—(कुछ सोचकर) किन्तु तुझे यह सफलता इस जन्म में प्राप्त नहीं हो सकती।

अम्बा—न सही इस जन्म में, दूसरे में सही। अपने करोड़ों जन्मों में भी ऐश्वर्य के सामने भीष्म का ही नाश मुझे अच्छा लगता है। क्या आप देंगे ?

शिव—दूँगा। अवश्य दूँगा। (कुछ सोचकर) तू इस शरीर से उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। दूसरे जन्म में शिखण्डी बनकर तू भीष्म का नाश कर सकेगी। तुझे

अपनी प्रतिज्ञा दूसरे शरीर में भी याद रहेगी।

अम्बा—तथास्तु, प्रभो यही मेरी उपासना का लक्ष्य है। यही साधना का फल है। मैं कृतकृत्य हूँ नाथ ? प्रतिहिंसा ?

(शिव अन्तर्हित हो जाते हैं)

तू तमोगुण की नीची सीढ़ी है सही, किन्तु मनुष्यता का असली दर्प है तू निन्दित होती हुई भी अनिन्द्य है। ओफ़ यह क्या, जब मेरी साधना इस शरीर से पूर्ण होती प्रतीत नहीं होती तो अम्बा यह शरीर धारण ही क्यों करे ? नहीं अब मैं नहीं जी सकती। अम्बा, अब इस धुँधले आकाश में, इस विषैली पवन में, असफलता पर ठठा कर हँसती हुई इन तारिकाओं में अम्बा और नहीं जी सकती। जीना कठिन है। असफलता से मृत्यु हज़ार दर्जे अच्छी है। मैं मरूँगी और भीष्म की मृत्यु के लिये मरूँगी। इस जीवन से मरना अच्छा है।

(एक ओर से चली जाती है नेपथ्य में जोर से किसी के नदी में गिरने का शब्द सुनाई देता है दूसरी ओर से दो साधुओं का प्रवेश होता है।)

पहला—आवाज़ किधर से आई है ?

दूसरा—हाँ ठीक, इधर से कोई गिरा है। पर दीखता तो नहीं।

पहला—अभी पकड़ कर लाता हूँ। (एक साधु उधर चला जाता है।)

दूसरा—हमें संसार से क्या लेना देना है। फिर भी डूबते को बचाना हमारा धर्म है। हाय, कैसा बुरा है। (पहला एक स्त्री के शरीर को लेकर प्रवेश करता है।)

दूसरा—यह तो स्त्री है भाई ?

पहला—(भूमि पर रखता हुआ) कोई दुखिया है। अवस्था भी थोड़ी मालूम देती है। (ध्यान से देखते हुए) अभी अभी गिरने के कारण इसके शरीर में पूरा पूरा पानी नहीं भरा है। यत्न करने पर जी सकती है। परन्तु मैंने तो इसे कहीं····। [उल्टा टाँग कर जल निकालते हैं]

दूसरा—[शरीर की गति टटोल कर] श्वास बहुत धीमा है। शायद बच जाय !

अम्बा—[धीरे धीरे चैतन्य होकर] ओह ! बड़ी पीड़ा है परन्तु भीष्म की मृत्यु के सामने······कुछ भी······नहीं— कुछ भी नहीं·····[उन दोनों की ओर देख कर] तुम दोनों कौन हो······ भाई ?

पहला—अब होश आगया। अरे यह तो काशिराज की कन्या

अम्बा है। बहन, तुम यहाँ कैसे ?

दूसरा—क्यों जी, तुम इसे कैसे जानते हो ?

पहला—मैं कभी महाराज काशिराज का विदूषक था।

अम्बा—नहीं मैं जी नहीं सकती। जी नहीं सकती। मैं मनुष्य का उपहास, दर्प की तुच्छता, हृदय की बेहोशी, अम्बा हूँ। मैं जीना नहीं चाहती। (ध्यान से देखकर) अरे, विदूषक ! तुम यहाँ कैसे ! आह ! याद आगया, वह बड़ा अशुभ स्वप्न था। आज उसी स्वप्न का परिणाम तो देख रही हूँ। अब मेरे जीवन का अन्त······। (बेहोश हो जाती है)

पहला—भाग्य की बलिहारी है। सिर पर चढ़ाने योग्य फूल पैरों तले कुचला गया। मणि मार्ग के पत्थरों की साथिन बन गई।

दूसरा—अम्बा, जिसे भीष्म हर लाये थे ?

पहला—हाँ, जिसे भीष्म हर लाये थे।

दूसरा—जिसके लिए महर्षि परशुराम ने भीष्म से भयानक युद्ध किया था। हाय बिचारी की यह दशा ?

अम्बा—(चेतना प्राप्त करके) हाँ, वही अम्बा ! अत्याचारों की पोटली अम्बा, किन्तु नहीं, ये दीपक······अब

बुझना ही चाहता है। बुझा···बुझ···भीष्म···की मृत्यु···मृत्यु। (फिर एक बार) मेरी मृत्यु से शत्रु···शत्रु की मृत्यु····अच्छा यही हो···स्वप्न का परिणाम···अच्छा··· ।

(प्राणत्याग कर देती है)

पहला—मर गई। इसका जीवन कितना दुःखपूर्ण था! मैंने सदा से सबेरे को साँझ की ओर बढ़ते देखा है पर साँझ उसी सबेरे की ओर दौड़ती कभी न देख पड़ी। चलो इस से क्या, आँसू भी तो गिर कर हृदय की जलन को भूल जाते हैं।

दूसरा—अच्छा!

पटपरिवर्तन

———

सातवाँ दृश्य

महाभारत के युद्ध के बाद

(भीष्म मृत्यु-शय्या पर पड़े हैं। श्रीकृष्ण युधिष्ठिर आदि उनके पास बैठे हैं।)

भीष्म—(एकाएक) हैं यह क्या ! सारा दृश्य सामने आ रहा है ! हटो हटो काशिराज, यदि तुम में बल हो तो रोको, भीष्म इन सब के देखते देखते इन तीनों कन्याओं को हर लिये जाता है। (मृत्यु-शय्या से उठने की चेष्टा करते हुए)

श्रीकृष्ण—नाथ, लेटे रहिये !

युधिष्ठिर—महात्मा भीष्म को यह क्या हो गया ? कुछ समझ नहीं पड़ता !

भीष्म—अच्छा, तुम जाओ, जाओ। मैं यही चाहता हूँ। लाल लाल आँखें क्यों दिखाती हो । मैं मानता हूँ मेरा अपराध है। रहने दो, मैं अपने आप जल रहा हूँ। मैं क्या करूँ। तुम्हीं बताओ मैं ब्रह्मचारी हूँ । उफ़, मुझे और मत जलाओ ! मत जलाओ । यह शरीर जला जा रहा है।

रहने दो। क्या कहा ? तुमने मुझे मारने की प्रतिज्ञा की है ? शिव का वरदान है ? अच्छा मैं मरूँगा। मरूँगा !

[व्यास का प्रवेश श्रीकृष्णादि सब लोग उनका सत्कार करते है। उनके बैठने पर]

श्रीकृष्ण—महाराज, धर्मात्मा भीष्म की यह क्या अवस्था है ?

युधिष्ठिर—निरपराध भीष्म को क्या हुआ महाराज, [श्रीकृष्ण से] तुम क्या नहीं जानते प्रभो ?

व्यास—काशिराज की कन्या अम्बा की प्रतिहिंसा का फल भीष्म को भुगतना पड़ रहा है ! तुम्हारी ही तो लीला है ? एक स्त्री के अनादर का फल यह महाभारत हुआ और दूसरी स्त्री के अनादर का फल है भीष्म की मृत्यु।

भीष्म—सब कुछ सही है ! मैं ही अन्धा था ! बस अब और नहीं [चेतन हो कर] आप सब लोग बैठे हैं।

सब—महात्मा भीष्म को बड़ा कष्ट है।

व्यास—गोविन्द, सब को तुम्हारे ही नियमों का पालन करना होता है ! तुम किसी के साथ रू-रियायत नहीं करते। बस, अब महात्मा का अन्त समय है।

भीष्म—गोविन्द, समझा, सब समझा। अम्बा ने मुझ से, मेरे वंश से पूरा बदला लिया। एक स्त्री के अनादर का परिणाम देश का नाश हुआ। जाता हूँ···जाता हूँ······गोविन्द······चरण ···कमल···दो···।

(प्राण त्याग कर देते है)

(शिखण्डी के वेश में अम्बा का प्रवेश)

अम्बा—हो गया, सब कुछ हो गया। यही चाहती थी, आहा हा—और कुछ भी नहीं चाहिये। भीष्म, उस दिन मेरा छोटा सा संसार जला था और आज मेरा क्रोध जल रहा है। आहा हा···।

(प्रसन्नता से पागल होकर बाहर चली जाती है)

अर्जुन—(दोनों हाथ जोड़कर और खड़े होकर) यह क्या, क्या यह सब वही हो रहा है! प्रभो! आपके नियम बड़े प्रबल हैं।

श्रीकृष्ण:—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च [illegible] कर्मणो गतिः॥

सब—प्रभो!

हिन्दी में वियोगान्त नाटक शैली के प्रवर्तक एवं सुकवि श्रीभट्ट जी की कृतियाँ

१ तक्षशिला काव्य — २।)

२ विक्रमादित्य (नाटक) ॥=)

३ दाहर अथवा सिन्ध पतन (नाटक) १) पंजाब, दिल्ली, पटना, अजमेर यूनिवर्सिटी के इन्टर मैट्रिक और हिन्दीरत्न के कोर्स में नियत है।

४ शकुन्तला (नाटक) १)

५ राका (छायावाद और रहस्यवादसम्बन्धी लेखक की फुटकर कविताएँ १)

६ कृष्णचन्द्रिका (एक प्राचीन काव्य) २॥)

७ सूरदास के दृष्टिकूट (अप्रकाशित)

८ मत्स्यगन्धा ॥।)

९ सगर-विजय (नाटक) १), १० विश्वामित्र ॥), ११ मानसी १)

नोट—दाहर अथवा [illegible] और तक्षशिला काव्य [illegible] और ४५० रु०